एम० एन० राय का

वैज्ञानिक मानववाद

एस० एन० मुन्शी

मनस्वी पुस्तकालय, सी-८६१, महानगर, लखनऊ-२२६००६
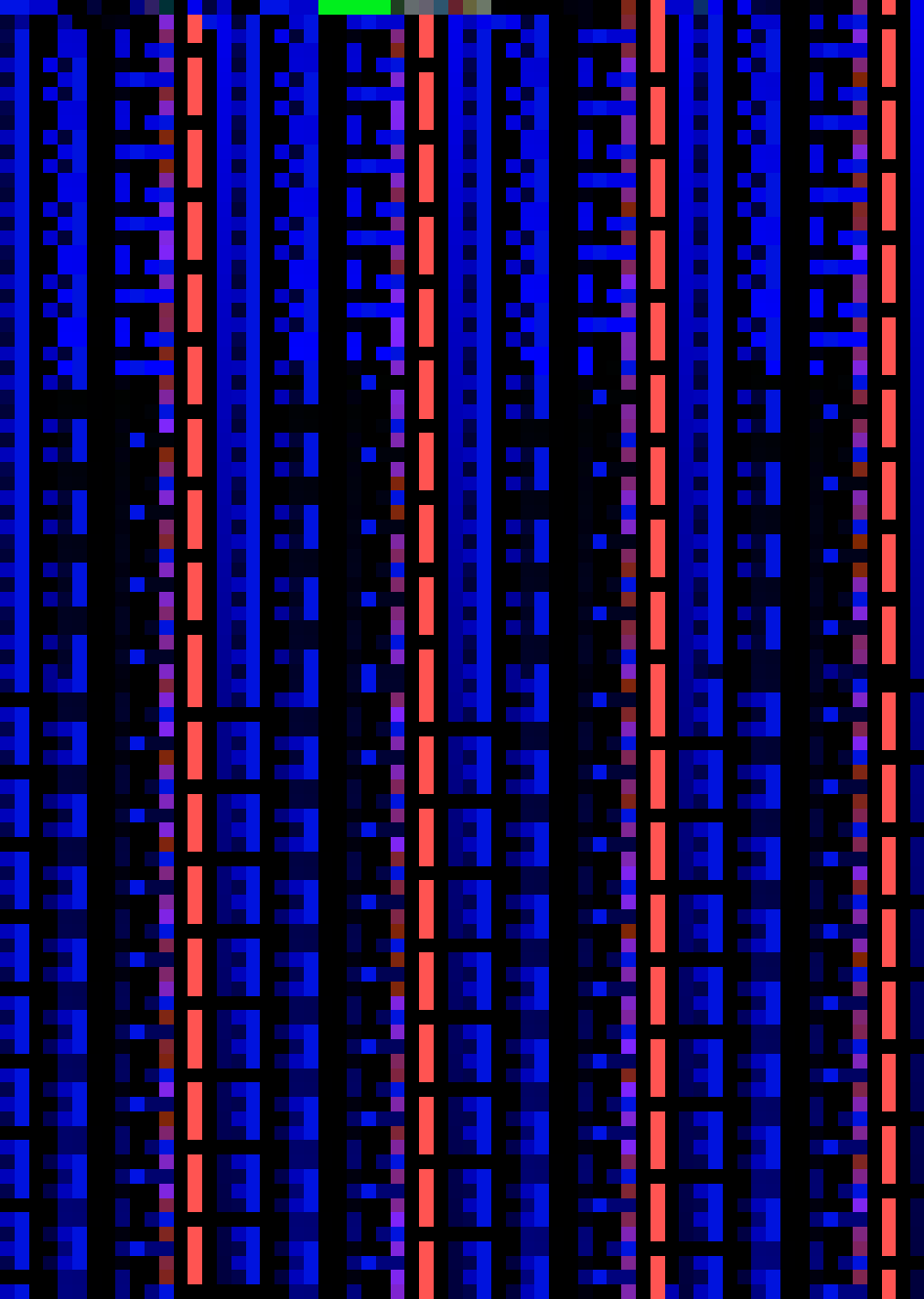
म. एन. राय का

वैज्ञानिक मानववाद

एस. एन. मुन्शी

मानस्वी पुस्तकालय
सी–८६१, महानगर
२२६००६

कहा क्या है ?

"वैज्ञानिक मानववाद की तत्वमीमांसा भौतिक यथार्थवादी है। विश्वप्रक्रिया यन्त्रवादी है जिसमें नियतत्ववाद, कार्यकारणवाद, नियमानुशासन तथा विकास के सिद्धान्त शामिल हैं। मनोविज्ञान, शरीर क्रियाविज्ञान में विलीन होकर रसायन विज्ञान के द्वारा भौतिकी से सम्बन्धित हो जाता है।"

—एम० एन० राय

विषय प्रवेश

कामरेड एम० एन० राय के जिन विचारों एवं सिद्धान्तो को हम पिछले करीब पचास सालों से रायवाद अथवा रायिज्म के नाम से सुनते रहे हैं उसी का पूर्ण विकसित, संगठित तथा शुद्ध रूप है 'वैज्ञानिक मानववाद' (साइन्टिफिक ह्यूमनिज्म)। इसे रैडिकल अथवा मूलभूत मानववाद, समग्र (इनटिग्रल) मानव-वाद और नव-मानववाद भी कहा गया है। वैज्ञानिक इसलिए कि यह मानव-वाद वैज्ञानिक विधि तथा चिंतन प्रणाली से अभी तक के अर्जित ज्ञान पर आधारित है; रैडिकल या मूलभूत इसलिए कि इस मानववादी दृष्टिकोण के अंतर्गत किसी भी समस्या के तात्कालिक और कामचलाऊ समाधान की अपेक्षा उसके बिल्कुल मूल, उसकी बुनियाद तक जाने और उसके स्थायी, टिकाऊ हल पर जोर दिया जाता है और नवमानववाद इसलिए कि मानववाद या मानवता-वाद का नाम बहुत प्राचीन है और इसकी परम्परा धर्म तथा मानव जगत से परे ईश्वर आदि पर आधारित नैतिक, व्यावहारिक तथा न्याय-सम्बन्धी नियमो से भी सम्बद्ध रही है। एम० एन० राय का मानववाद इस परम्परा तथा इन नियमों-सिद्धान्तों के बिल्कुल प्रतिकूल है। वह मोक्षधर्म पर, ईश्वर पर या इस भौतिक जगत से परे किसी शक्ति पर विश्वास नहीं करते थे। उन्हें इसी हाड़-मांस के मानव पर पूर्ण विश्वास था। इसीलिए उन्होंने अपने सिद्धान्तो या जीवन-दर्शन को मानववाद की संज्ञा दी। यहाँ पर हमें यह न भूलना चाहिए कि वह अन्य राजनीतिक अथवा सामाजिक नेताओं की भाँति निरे राजनेता या राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, वरन् दार्शनिक, विज्ञानी तथा व्यावहारिक कार्यकर्त्ता भी थे। इसीलिए उनके दर्शन में जीवन के तमाम रूपों का सम्मिश्रण है, वह सर्वांगीय है और उनका मानव सर्वतोमुखी प्रतिभावाला तथा पूर्ण स्वतंत्र एव मुक्त है।

उन्होंने स्वयं लिखा है कि चौदह वर्ष की आयु से उन्होंने राजनीतिक जीवन आरम्भ किया था। तब महात्मा गांधी भी सक्रिय रूप से भारतीय राजनीति में नहीं आये थे। स्कूलों, कालेजों की शिक्षा से वह कोसों दूर थे। जिस राजनीति में उन्होंने सबसे पहले पैर रखा था, उसका अंत क्या होगा, वह स्वयं भी नहीं जानते थे। उस समय उनकी केवल यही इच्छा थी कि देश स्वतंत्र हो और वह स्वतंत्रता पूर्ण हो, आधी या खिचड़ी नहीं। पुराने ज़माने के सभी क्रांतिकारी ऐसी ही स्वतंत्रता चाहते थे। उन्होंने कार्ल मार्क्स के ग्रंथ पढ़ना तो दूर रहा, उसका नाम तक नहीं सुना था। उन्हें क्या पता था कि 'प्रोलीतेरियत' या सर्वहारा क्या बला है। लेकिन फिर भी जान हथेली पर लिये घूमते थे और मौका पड़ने पर फांसी के तख्तों पर भी झूल जाते थे। उनके दिमाग़ में वर्ग-संघर्ष की गन्ध भी न थी, लेकिन उनके हृदय में एक आग थी जो कि पराधीनता के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए धधक रही थी। वे यह भी नहीं जानते थे कि आख़िर यह परिस्थिति कैसे बदलेगी और फिर क्या स्थिति होगी; वे तो सिर्फ दासता को दूर करना चाहते थे। राय ने लिखा है :

"मैंने सिर्फ इसी भावना से राजनीतिक जीवन आरम्भ किया था और आज भी कार्ल मार्क्स के तीन या मार्क्सवादियों के तीन सौ ग्रन्थों की अपेक्षा उसी भावना से कहीं अधिक प्रेरणा प्राप्त करता हूं।"

आख़िर यह स्वतंत्रता की भावना है क्या? स्वतंत्रता की भावना वह प्रेरक शक्ति है जिसने मनुष्यों की इस दुनिया का निर्माण किया, जिसने दास प्रथा को जन्म दिया, फिर उसे सुधार कर सामन्तवाद को, फिर उसे ठीक करके पूँजीवाद को पैदा किया। यही स्वतंत्रता की भावना और भी अधिक सुन्दर, सुखद तथा प्रगतिपूर्ण दुनिया की रचना करेगी, जिसकी हम इच्छा करते है, जिसके हम स्वप्न देखते हैं।

स्वतंत्रता की इसी प्रेरक और मूल भावना की व्यावहारिक पूर्ति को हम क्रांति कहते हैं। हमारे देश में राजनीतिक स्वतंत्रता का आन्दोलन एक क्रांतिकारी आन्दोलन था, इसलिए विकास एवं उन्नति के लिए यह आवश्यक था कि हमारी सामाजिक अवस्था में आमूल परिवर्तन हो, और इसके लिए

राजनीतिक स्वतंत्रता की आवश्यकता थी। क्रांति भी एक सामाजिक घटना होती है और यह तभी होती तथा हो सकती है जब इसकी आवश्यकता ही नहीं, अनिवार्यता भी हो। क्रांति दो-चार, दस-बीस या सौ-दो सौ आदमियों से नहीं होती। इसमें समाज अथवा सम्प्रदाय के अधिकतर व्यक्तियों के सम्मिलित होने की जरूरत है, अन्यथा क्रांति सफल नहीं हो सकती। लेकिन प्रचलित एवं स्थापित सामाजिक सम्बन्धों, राजनीतिक व्यवस्थाओं और संगठनों के परिवर्तन की आवश्यकता को इनेगिने चेतन तथा जागरुक लोग ही महसूस कर सकते है। यही इनेगिने लोग किसी भी क्रांति के नेता या अगुआ हो सकते हैं। लेकिन इन नेताओं या अगुओं में सामाजिक, राजनीतिक क्रांति की आवश्यकता का एहसास होने के लिए यह आवश्यक है कि उनके दृष्टिकोण में, उनकी विचार-शैली में और उनके व्यापक जीवन-दर्शन में भी मूलभूत परिवर्तन हो। इसीलिए, राय ने कहा है:

"किसी भी सामाजिक क्रांति (और राजनीतिक एवं आर्थिक क्रांति मूलतः सामाजिक ही हैं) के लिए पहले एक दार्शनिक क्रांति होनी आवश्यक है।"

उपर्युक्त निष्कर्ष का व्यावहारिक अर्थ यह हुआ कि क्रांति के संचालक लोगों तथा क्रांतिकारी आन्दोलन की पथप्रदर्शक विचारधारा एवं उसकी सैद्धान्तिक-बौद्धिक आधारशिला भी पूर्णरूपेण क्रांतिकारी होनी चाहिए। लेकिन भारत में सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि उसकी विचारधारा या सैद्धान्तिक आधार-शिला क्रांतिकारी नहीं थी। आन्दोलन स्वयं तो क्रांतिकारी तथा प्रगतिशील रहा, लेकिन उसके ऊपर एक प्रतिक्रियावादी विचारधारा हावी रही। फलत. पूरे आन्दोलन का रूप ही बदल गया। आन्दोलन की तह में छिपी वास्तविक शक्तियों को उस विचारधारा ने दबा दिया। राय के शब्दों में:

"अगर हमें आगे बढ़ना है तो हममे अतीत से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद करने का साहस होना चाहिए और जितने अधिक दिन हम अतीत की मान्यताओं तथा मूल्यांकनों से चिपटे रहेंगे, हमारा भविष्य हमसे उतनी ही दूर भागता जायेगा", क्योंकि समय के साथ-साथ उन मान्यताओं का मूल्य और उन मूल्यांकनों के औचित्य बेकार और निरर्थक होते जाते हैं।

राय का वैज्ञानिक मानववाद, इसी दार्शनिक तथा बौद्धिक क्रांति की दिशा में एक कदम है।

× × ×

मकान बनाने में हमें सबसे पहले उसकी ईंट-ईंट देखनी पड़ती है, गणित में गिनती हम एक से आरम्भ करते हैं। इसी प्रकार समाज के किसी प्रकार के भी पुनर्संगठन या पुनर्निर्माण का कार्य भी हमें उसकी मूल इकाई से, उसकी जड़ से शुरू करना चाहिए। इसी लिए कहा गया है :

"आदि काल से आज तक की मानव-धरोहर के पूरे भंडार के आधार पर क्रांति के एक नये दर्शन को विकसित करने के प्रयत्न और फिर निश्चित मत अर्थात सिद्धान्त तैयार करने और फिर उसके अनुसार राजनीतिक आन्दोलन एवं आर्थिक पुनर्निर्माण के व्यवहार के सिद्धांत बनाने को मूलवाद, अधारवाद या रैडिकलिज्म कहते हैं।"

इस दृष्टिकोण से हम किसी एक राष्ट्र, सम्प्रदाय, राज्य, धर्म अथवा वर्ग आदि के बारे में नहीं सोच सकते हैं। उसका सम्बध तो मानव से है, क्योंकि वही तो पूरे समाज का मूल है, इकाई है। इसकी स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ है व्यक्ति-व्यक्ति की स्वतंत्रता, मात्र मानव की स्वतंत्रता। इसी लिए इस विचारशैली अथवा दर्शन को मानववाद भी कहते हैं। यह मानववाद नव मानववाद इसलिए है कि यह आदिकाल से लेकर आधुनिक सभ्यता तक मानव ने जितनी भी उन्नति की है, विज्ञान तथा सामाजिक अनुभवों की मदद से अपनी मानवता अथवा मानवीयता को जितना भी ऊंचा उठाया है, अपने ज्ञान के भंडार को जितना भी अधिक भरा है, अपने मार्ग, अपनी स्वातंत्र्य-भावना की पूर्ति के मार्ग की बाधाओं को जितना अधिक नष्ट किया है और इस प्रकार स्वतंत्रता—जो मानव की मूल प्रवृत्ति है—की मंजिल पर जितने कदम आगे बढ़ा है, वह सब इस रायवादी वैज्ञानिक मानववाद में सम्मिलित है।

वैज्ञानिक-अथवा रैडिकल मानववाद स्वयं अपने में एक समाज दर्शन है जिसका आमतौर पर सम्बंध मनुष्य के सामाजिक जीवन से होता है और

जिसके विभिन्न पक्षों पर इस पुस्तक में एम.एन.राय के मतानुसार विचार किया गया है। इन विभिन्न पक्षों में मानव तथा मानव-समाज, मानव-स्वभाव, मूल्य-मीमान्सा, नीतिधर्म अर्थात नैतिकता, सामाजिक विकास अर्थात् इतिहास-दर्शन, राजशास्त्र अथवा राजनीति, और आर्थिक व्यवस्था या अर्थनीति महत्वपूर्ण हैं।

भौतिक यथार्थवाद

लेकिन स्वयं राय का कहना है कि किसी भी समाज दर्शन के उचित, ग्राह्य और न्यायसगत होने के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी व्यापक जीवन तथा विश्व दर्शन पर आधारित हो। और किसी भी व्यापक विश्व दर्शन मे तत्व-मीमान्सा, विश्व-प्रक्रिया, मनोविज्ञान और ज्ञानमीमान्सा से सम्बधित अध्ययन सम्मिलित होते है और इस व्यापक अध्ययन के लिए वैज्ञानिक विधि एवं दृष्टिकोण के प्रयोग की शर्त अपरिहार्य है। अतः राय के वैज्ञानिक मानववादी समाज दर्शन को ठीक से समझ सकने के लिए उनके मूलभूत व्यापक दर्शन को समझ लेना आवश्यक है। स्पष्ट है कि यहां इस विषय पर विस्तार से विचार करना असम्भव है। फिर भी इस पुस्तक में प्रस्तुत समाज दर्शन को समझने के लिए अनिवार्य शर्त होने के कारण उस व्यापक दर्शन का कुछ न कुछ परिचय दे देना आवश्यक तथा उपयोगी होगा।

राय के व्यापक एवं सामान्य दर्शन को सूत्र रूप में इस प्रकार कह सकते हैं: वैज्ञानिक मानववाद की तत्व-मीमान्सा (आन्टोलॉजी) 'भौतिक यथार्थवादी' (फिजिकल रियलिस्ट) है, विश्वप्रक्रिया (काज़्मॉलॉजी) 'यन्त्रवादी' (मेकनिस्टिक) है जिसमें नियततत्ववाद, कार्य-कारणवाद नियमानुशासन तथा विकास (डिटरमिनिज्म, काज़लिटी, ला-गवर्न्डनेस और इवोल्यूशन) के सिद्धांत शामिल हैं, मनोविज्ञान शरीर-क्रिया विज्ञान (फिजियोलॉजी) में विलीन होकर रसायन विज्ञान (केमिस्ट्री) के द्वारा भौतिकी (फिजिक्स) से सम्बन्धित हो जाता है, और ज्ञानमीमान्सा (एपिस्टिमॉलोजी) में प्रत्यक्ष बोध (पर्सेप्चुअल नालेज) तथा वैचारिक या प्रत्ययात्मक चिंतन (कान्सेप्चुअल थिंकिंग) दोनों का समन्वय होता है।

राय के व्यक्तित्व के इस दार्शनिक पक्ष के बारे में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, के दर्शन विभाग के अध्यक्ष, प्रोफेसर चांदमल के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है:[१]

"राय अद्वैतवादी (मोनिस्ट) हैं। द्वैतवाद (डुअलिज्म) अपने समस्त रूपों में उन्हें अस्वीकृत है। उनके मत में द्वैतवाद को किसी न किसी रूप में परातत्व को स्वीकारने के लिए बाध्य होना पड़ता है—चाहे वह परातत्व कोई सिद्धि विशेष हो या ईश्वर। परातत्व की यह स्वीकृति मानव स्वतंत्रता के लिए घातक है।

"राय के मत में केवल भौतिकवाद (मैटीरियलिज्म) ही सुसंगत अद्वैतवाद का दावा कर सकता है। अध्यात्मवाद अथवा प्रत्ययवाद (आइडियलिज्म) को किसी न किसी ऐसे तत्व को स्वीकारना होता है जो विश्व-प्रक्रिया से परे अवस्थित हो, और स्वयं उससे अलग रहते हुए भी उसे निर्देशित करता हो। इस परातत्व की संप्राप्ति ही अध्यात्मवाद के अनुसार विश्व-प्रक्रिया की चिकीर्षित आकांक्षा होती है। एकतत्व-भौतिकवादी दार्शनिक के लिए बहुलवादी ब्रह्माण्ड को स्वीकारने में कोई अड़चन नहीं होती। ज्यों-ज्यों खगोल का विकास होता है, त्यों-त्यों उसमें प्रकारान्तरों का जन्म होता रहता है जो विशिष्टताओं एवं विभेदों को जन्म देता है। प्राण (जीव) एवं चेतना उद्‌भूत तत्व है। इसकी सत्ता (एक्जिस्टेन्स या बीग) की व्यवस्था के लिए किसी परातत्व का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं। ब्रह्माण्ड की विकास-प्रक्रिया सतत एवं अक्षुण्ण है और विभिन्न प्रकारान्तरों में गतिमान रहती है। आरम्भ से लेकर जैव-यौगिकों, प्राण एवं चेतना के उद्‌भव तक इस विकास-प्रक्रिया में कोई अवरोध अथवा गतिभंग नहीं हुआ है। निर्जीव, प्राणवान एवं मानसिक क्रियाएं खगोलिक विकास की ही अवस्थाएं हैं। और इन अवस्थाओं में नैरन्तर्य है। नैरन्तर्य वहीं तक सीमित न रहकर सामाजिक एवं नैतिक विकास-स्तरों में भी दिखलायी देता है। राजनीतिक एवं सामाजिक विकास जैविक विकास

१—दर्शन प्रतिष्ठान, जोधपुर, की त्रैमासिक पत्रिका 'तत्व चिन्तन' (बसन्त १९६९) में प्रकाशित लेख से।

Self-preservation instinct

(बायोलॉजिकल इवोल्यूशन) की निरन्तरता को विवेक (रीज़न अथवा रेशनलिटी) के उच्चस्तर पर प्रकट करते हैं। राय का यह विश्वास है कि ज्ञान एवं स्वतंत्रता की खोज, अन्तिम विश्लेषण में, आत्म-रक्षण की जैविक प्रवृत्ति से ही प्रेरित होती है।

"भौतिकवादी होते हुए भी राय मार्क्स के द्वन्द्वात्मक (डायलेक्टिकल) भौतिकवाद को अस्वीकार करते है।.........राय के अनुसार अद्वैतवाद अर्थात् एकतत्ववाद का दावा करते रहने पर भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का स्वरूप द्वैतवादी है।

"राय यान्त्रिक या यन्त्रवादी भौतिकवाद को स्वीकारते हैं क्योंकि वह हेतुवाद (टेलियोलॉजी) का विरोधी है। आधुनिक विज्ञान के दार्शनिक निष्कर्षों का पूर्ण लेखा-जोखा राय ने अपनी प्रकाशित एवं अप्रकाशित कृतियों में किया है। राय के मत में ये निष्कर्ष भौतिकवाद त्यागने का परामर्श नहीं देते। राय यह तो स्वीकारते हैं कि आधुनिक भौतिकी ने पुद्‌गल (अर्थात् मूल पदार्थ या मैटर) के ठोस रूप का निराकरण कर दिया है, किन्तु इससे वे यह निष्कर्ष निकालने को कतई तैयार नहीं है कि भूत तत्व को ही निष्कासित कर देता है। आधुनिक भौतिकी के अनुसन्धान हमें पुद्‌गल के स्वरूप की पुन: संरचना का ही निर्देश करते हैं। किन्तु इस पुनर्रचना का अर्थ भौतिक के स्थान पर (निरे) चेतन की स्थापना करना नहीं है। आधुनिक भौतिकी के विकास, को मान्यता देते हुए राय ने अपने दर्शन को 'भौतिक यथार्थवाद (फिज़िकल रियलिजम) की सज्ञा देना अधिक उपयुक्त समझा है।

"अपनी ज्ञानमीमान्सा में राय यथार्थवादी हैं। सत्य ज्ञानगत तत्व है। सत् को यथाभूत रूप में जानने के लिए मानवबुद्धि पूर्णत: सक्षम है। हमारे मनस् का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता को सिद्ध करने की आवश्यकता वे नहीं समझते। उनके मत में जैविक विकास के सम्यक् सिद्धान्त को स्वीकारने के पश्चात् ज्ञान की यथार्थता शास्त्रीय तर्कों से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। मानव मस्तिष्क एक परिज्ञानशील उपकरण के रूप में प्रयत्न एवं भूल की सुदीर्घ प्रक्रिया की देन है। इस प्रक्रिया के मूल मे प्रकृत्ति का

नियमानुशासित व्यवहार रहा है। अतः चित्त द्वारा भ्रमित होने की अधिक सम्भावना ही नहीं है। उद्गम काल से लेकर आज तक मानव जाति को कई विनाशकारी आपदाओं का सामना करना पड़ा है। विकासक्रम की इन सभी दुर्गम एवं सुगम बाधाओं को पारकर आना इस बात को सिद्ध करता है कि मानव की बुद्धि अपने परिवेश को सही-सही आंक पाने में पूर्णतः सबल और सुयोग्य है।

विकासवादी परिकल्पना को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करके राय ने ज्ञान की सम्भावना-सम्बन्धी अनुभववादी शंकाओं को अधिक महत्व नहीं दिया। उनके मत में ये शंकाएँ विज्ञान-जनित प्रामाणिक ज्ञान-भंडार से अनभिज्ञता को ही प्रदर्शित करती हैं। शास्त्रीय दार्शनिकों को राय की अनुभववाद एवं अध्यात्मवाद (प्रत्ययवाद) की आलोचना सतही प्रतीत होगी और इसलिए वे उन्हें अदार्शनिक की भी संज्ञा दे सकते हैं। किन्तु उचित दृष्टिकोण से आंकने पर उनकी मान्यता ठहर नहीं सकती। राय का दर्शन किसी निरुद्यमी मस्तिष्क की कल्पना नहीं है।

"दर्शन का क्या प्रयोजन है? इसमें राय मार्क्स के अनुयायी हैं। मार्क्स ने कहा है कि अब तक दार्शनिकों ने केवल जगत की व्याख्या की है, अब हमें उसे बदलना है। राय उन सिद्धांतों की मीमान्सा में समय एवं शक्ति नष्ट करने के विरोधी थे जो प्रतिदिन के निर्णयों एवं कार्यों में पूर्वापेक्षित रहते हैं। राय पैनी सहज बुद्धि वाले व्यक्ति थे। जिन सिद्धान्तों को उनके प्रतिपादक भी अपने दैनिक जीवन में निभा नहीं पाते और जो हमारे प्रतिदिन की क्रियाओं से असिद्ध होते हैं, उन पर गम्भीर चिन्तन करना समय और शक्ति का अपव्यय है। ये सिद्धान्त सम्यक् व्यवहार को निर्देशित करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त राय दर्शन को एक ऐसा विचार-तन्त्र मानते थे जो उचित अभ्युपगमीय संस्थान के निर्माण द्वारा समस्त वैज्ञानिक ज्ञान को सार्थक सूत्र में संगठित कर सके। विज्ञान द्वारा प्रसिद्ध तथ्यों की अवहेलना करने वाले सिद्धान्त अविवेकपूर्ण एवं त्याज्य हैं। वैज्ञानिक विधि ही ज्ञानार्जन की एक विवेकसम्मत विधि है : सामान्य प्रत्यय या विचार एवं वैज्ञानिक नियम मानव मन के कल्पना मात्र नहीं हैं, वे सत् के स्वरूप को परिलक्षित करते हैं।

प्रकृति नियमानुवर्त्तिनी है। मानव मस्तिष्क स्वयं इस नियमानुवर्ती प्रकृति की ही उद्‌विकासी उपज है; अत: वह प्रकृति के नियमों को जान सकने में पूर्णत: सक्षम है।"

यह हुई राय के व्यापक जीवन दर्शन की विशुद्ध दार्शनिक पृष्ठभूमि जिस पर विस्तार से अन्यत्र विचार किया गया है। इस जीवन दर्शन का दूसरा और मुख्य भाग राय का समाज दर्शन है जिसके केन्द्रीय विषय हैं मनुष्य तथा समाज और इन्हीं से सम्बन्धित अन्य विषय, जिन पर इस पुस्तक मे विचार किया गया है।

जिस प्रकार अभी हमने देखा कि राय के दार्शनिक चिन्तन तथा विचारों का मुख्य आधार प्राकृतिक विज्ञान—भौतिकी, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान आदि—है, उसी तरह उनका समाज दर्शन इससे जन्मे तथा विकसित समाज-विज्ञानों पर आधारित है जिनमें प्रागितिहास-सहित मानव विज्ञान तथा मनोविज्ञान प्रमुख हैं।

× × ×

अब कुछ इस पुस्तक के विषय में भी। आज से २५ वर्ष पूर्व, कामरेड राय के निधन के बाद पहली बार १९५५ में सासाराम (शाहाबाद, बिहार) में रैडिकल ह्यमनिस्टों का जो अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ था, तो उसके लिए कामरेड एलेन राय के आदेश पर एक छोटी-सी पुस्तक 'एम० एन० राय और नवमानववाद' मैंने और मेरे मित्र चन्द्रोदय दीक्षित ने मिलकर प्रकाशित की थी। इधर कुछ वर्षों से, विषय की गम्भीरता, सामयिकता, कुछ विश्वविद्यालयों के एम० ए० के राजशास्त्र के पाठ्यक्रम से सम्बन्धित प्रासंगिकता को और इधर कुछ वर्षों से—विशेषत: जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रवर्तित समग्र क्रांति के आन्दोलन से—देश के राजनीतिक वातावरण में आये बदलाव को देखते हुए, एक अपेक्षत: बड़ी पुस्तक की आवश्यकता महसूस की जाती रही। 'एम० एन० राय का वैज्ञानिक मानववाद' उसी आवश्यकता को पूरी करने का एक व्यक्ति-

गत प्रयास है। चूँकि इसमें प्रस्तुत सामग्री का काफी बड़ा अंश राय की कृतियों से ही लिया गया है, इसलिए, पाठकों से निवेदन है कि उन्हें इस पुस्तक में जहाँ कहीं भी उद्धरण का स्रोत खोया हुआ मिले तो उसे राय की किसी न किसी कृति को समझ लें। यही कारण है कि मुझे इस पुस्तक का सही अर्थों में लेखक होने का दावा भी नहीं करना चाहिए—मेरे लिए इसका प्रस्तुतकर्ता ही होना संतोष और गर्व की बात है।

पाठकों से एक निवेदन और। राय के वैज्ञानिक, रैडिकल, समग्र या नव-मानववाद को पूरी तरह समझने के लिए इस पुस्तक की दार्शनिक आधारशिला के रूप में 'भौतिक यथार्थवाद' अवश्य पढ़ें जो निकट भविष्य में ही प्रकाशित होगी।

१

व्यक्ति की प्रधानता

वैज्ञानिक मानववाद एक समाज-दर्शन है है। लेकिन समाज के बारे मे एम० एन० राय का दृष्टिकोण और अध्ययन-विधि अधिकतर सामाजिक विचारको तथा समाजशास्त्रियों से सर्वथा भिन्न है। भिन्नता यह है कि जबकि अन्य लोग समाज को आदिकाल से, कम से कम उसके जन्मकाल से ज्यों का त्यो मान लेते हैं, जैसे इसका जन्म या उदय इस 'सामूहिक' अथवा 'समष्टि' रूप में ही हुआ था। इसके साथ-साथ, मनुष्य अर्थात् व्यक्ति या व्यष्टि को मूलत: सामाजिक प्राणी अर्थात् समाज–किसी भी सामूहिक रूप में–से ही उपजा हुआ और इसी रूप में ज़िंदा रह सकने वाला मानते हैं। राय का इससे सर्वथा भिन्न मत हे। राय के मतानुसार पूरे समाज पर या समाज के किसी भी पहलू पर विचार करते समय हमें यह बराबर याद रखना चाहिए कि समाज या समूह का कोई भी रूप क्यों न हो, उसकी रचना व्यक्ति ने की है। अतः हमे किसी भी समाज-सम्बन्धी विषय पर विचार या अध्ययन का आरम्भ व्यक्ति से करना चाहिए और साथ-साथ में जब हम किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचे तो देख लें कि उस निष्कर्ष का व्यक्ति से कितना निकट सम्बन्ध है। अर्थात्, किसी भी समाजशास्त्र अथवा समाज दर्शन अथवा समाज विज्ञान का सार या मूलाधार व्यक्तिशास्त्र व्यक्ति-दर्शन या व्यक्ति विज्ञान होना चाहिए।

आम तौर पर 'व्यक्ति' को सामाजिक, या समष्टि के, परिप्रेक्ष्य मे ही देखा जाता है। लेकिन उसका एक और, इससे भी अधिक महत्वपूर्ण, परिप्रेक्ष्य अथवा संदर्भ, होता है। वह है पूरे जैविक विकास के लम्बे क्रम में अन्यो से भिन्न और विशेष जाति के रूप में मानव या मनुष्य की स्थिति। दुर्भाग्यवश,

आम तौर पर सामाजिक विचारकों तथा समाजशास्त्रियों ने प्राकृतिक तथा जैविक विकास के इतिहास के ज्ञान से कोई लाभ नहीं उठाया है। राय ने समाज को समझने के लिए व्यक्ति को और व्यक्ति को समझने के लिए मानव या मनुष्य कहे जाने वाले जीवधारी या प्राणी के अध्ययन को आवश्यक माना है, क्योंकि, आधुनिक विज्ञान के अनुसार जिन्हें हम मानवीय गुण-धर्म कहते हैं, उसकी असली जड़ें तो उसके पशु-पूर्वजों के गुण-धर्मों से सम्बन्धित हैं। अर्थात्, आधुनिक मानव को समझने के लिए आदिम मानव के प्रागितिहास (प्रि-हिस्ट्री) और इससे भी पूर्व मानव जाति की उत्पत्ति से पहले के निकट सम्बन्धी पशुओं के इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता है।

लेकिन जब हम पूरी प्रकृति, पूरे जगत या पूरे ब्रह्माण्ड को—जितना कुछ ज्ञात है—अपना परिवेश और नियमानुशासित जैविक विकास को अपना पूर्व-इतिहास मान लेते हैं; तो प्रश्न उठता है : प्रकृति के असंख्य प्राणियों अथवा जीवधारियों (ऑर्गेनिज्म) और विशेषतया पशुओं या जन्तुओं में से मानव या मनुष्य को ही क्यों चुना ? अपनी पूरी दार्शनिक और सामाजिक चिंतनधारा एवं व्यवस्था को मनुष्य पर ही क्यों केन्द्रित कर दिया ?

इसका उत्तर देने की ज़िम्मेदारी हर मानववादी पर है और समाज दर्शन के व्यापक इतिहास में इस प्रश्न के मुख्यतः दो उत्तर दिये गये हैं। एक उत्तर तो वह है जो मानववादी चिंतन के आदिकाल में, अर्थात् ईसा से पूर्व पाँचवी, चौथी और तीसरी शताब्दियों में यूनान के प्रोटैगोरस, डिमॉक्रिटीज, एपीक्यूरस आदि, तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दियों तक में आरम्भिक रिनैसाँ अर्थात् पुनर्जागरण या नवजागरण आन्दोलन के दौरान इटली के पेत्रार्क, ब्रूनो, मैकियावेली, मिरैन्दोला, पोम्पान्जी, ल्योनार्दो द विन्ची और स्पेनवासी अरबी इब्न रुश्द (अवेरों) आदि, सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दियों तक में इंगलैण्ड, फ्रांस तथा जर्मनी के एनलाइटेनमेन्ट (ज्ञानोदय) तथा एनसाइक्लोपैडिक (विश्वज्ञानकोशी) आन्दोलन से सम्बन्धित फ्रांसिस बेकन, मॉन्टेन, कॉन्दोर्सेत, दिदेरो, वाल्तेयर, होलबाख, हेल्वेटियस, हाब्स आदि और उन्नीसवीं सदी में हेकेल (इंगलैण्ड), लुडविग फायरबाख, कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एन्गेल्स

(जर्मनी) आदि दार्शनिकों ने अपने समय में अर्जित वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर दिये। या फिर दूसरा वह उत्तर है जो अफ़लातून (प्लैटो) से लेकर वर्तमान समय के मैरितां, ऐक्विना, टोयनबी आदि तक के धार्मिक परम्परा के विचारकों ने दिये हैं, जिसके अनुसार लाख स्वतंत्र होने पर भी मानव बस निमित्त, वफ़ादार सेवक, प्रतिनिधि आदि हैं, असली बागडोर तो ईश्वर या इसी से मिलती-जुलती किसी अन्य अलौकिक, प्रकृति-से-परे सत्ता या शक्ति के हाथ में रहती है और इसीलिए इस चिंतनप्रणाली का मानव किसी ईमानदार मानववादी का मानव नहीं है।

लेकिन इन दोनों प्रकार के उत्तरों का आज केवल ऐतिहासिक महत्व ही अधिक है और स्थानाभाव के कारण यहाँ इन पर विचार करना असम्भव है। यहाँ पर इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि आदि मानववादी प्रोटैगोरस ने कहा था: "हर चीज़ का मानदण्ड मानव ही है।" और अभी पिछली सदी में ही आजकल के सर्वाधिक चर्चित एवं प्रभावशाली विचारक, मार्क्स ने कहा कि "मानवजाति की बुनियाद मानव ही है", जिसका, राय के शब्दों में, यह अर्थ है: "पहले मानव आता है, फिर मानवजाति। व्यक्ति समाज से पहले है जिसकी वह, अपनी अन्तःशक्तियों अथवा क्षमताओं की अभिव्यक्ति के लिए साधन के रूप में रचना करता है।"

मनुष्य की विशिष्टता

यद्यपि विचारों अथवा चिंतन के ऐतिहासिक सन्दर्भ तथा प्रासंगिकता की दृष्टि से इन सबके महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन फिर भी आज हमारे लिए इन सबसे अधिक महत्व आज की वैज्ञानिक खोजों पर आधारित मानव-सम्बन्धी निष्कर्षों तथा धारणाओं का है। आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान के अनुसार मनुष्य की इसी भौतिक जगत में इसी के अपने प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत स्वयं इसी से हुई है। "यह भौतिक जगत (अथवा ब्रह्माण्ड) एक नियमानुशासित (ला-गवर्न्ड) एवं सुसंगत (हार्मोनियस) व्यवस्था है। इसी व्यवस्था का एक अंश होने के कारण मनुष्य में इसकी अभिव्यक्ति विवेक और

निर्णय करने की क्षमता के रूप में होती है। चूंकि भौतिक प्रकृति की पृष्ठभूमि सुसंगत तथा नियमानुशासित है और मनुष्य इसी के (जैविक) विकास की सर्वोच्च उपज के रूप में पैदा और बड़ा हुआ, इसलिए मनुष्य में सुसंगठित व नियमानुशासित होने के तत्व स्वाभाविक तथा जन्मजात होते हैं। ये दोनों चीजें विशिष्ट मानवीय गुणों की बुनियाद होती हैं।"[१] और इन दोनों चीजों का घनिष्ट एवं अनिवार्य सम्बन्ध मनुष्य नामक जीवधारी की शारीरिक संरचना एवं प्रक्रिया से होता है जिनमें मस्तिष्क (ब्रेन), वल्कुट (कॉर्टेक्स) थैलमस और पूरे स्नायु-तन्त्र (नर्वस सिस्टेम) आदि से होता है। कुल मिलाकर इसे मन (माइन्ड) और मानसिक व्यापार-व्यवहार कह सकते हैं। अतः यह मन और मानसिक क्रियाएं ही मानव प्राणी को अन्य तमाम जीवधारियों या प्राणियों से भिन्न तथा विशिष्ट और जैविक विकास के क्रम में सर्वोच्च बना देती हैं।

इसीलिये मूर्धन्य जीवशास्त्री जूलियन हक्सले ने पूरी प्रकृति तथा प्राकृतिक व्यवस्था में 'मानव' को सबसे विशेष, उच्च एवं उत्तम बताते हुए कहा है कि "जैसे स्वसंचारी (स्वप्रजननी) पुद्गल या पदार्थ (मैटर) की उपलब्धि के फलस्वरूप विकास की जैविक अवस्था अर्थात् जैविक विकास का आरम्भ हुआ था, वैसे ही स्वसंचारी अथवा स्वप्रजननी मन (माइन्ड) की उपलब्धि के फलस्वरूप विकास की मानवीय अवस्था अर्थात् मानवीय विकास का श्रीगणेश हुआ। विकासीय निरन्तरता तथा विकासीय परिवर्तन, इन दोनों गुण-धर्मों के लिए गुणसूत्रों (क्रोमोसोम) और जीन के अतिरिक्त एक और क्रियाविधि अर्थात् तरकीब प्राप्त हो गयी। प्रत्ययी चिंतन (कॉन्सेप्चुअल थिंकिंग) तथा प्रतीकी भाषा (सिम्बॉलिक लैंगवेज) की क्षमता पर आधारित, इस क्रियाविधि या तरकीब ने मानव को शारीरिक या जैविक सीमाएं लांघ कर मनःसामाजिक (साइकोसोशल) अस्तित्व के एकदम नये-ताजे क्षेत्र में प्रवेश करने के योग्य कर दिया। इसी क्रियाविधि, क्षमता एवं योग्यता की बदौलत मानव सबसे नया और प्रभावी प्राणी या जीवधारी हो गया और अपनी इस

१. एम० एन० राय : पॉलिटिक्स, पावर ऐण्ड पार्टीज, १३८।

विशिष्ट स्थिति की प्राप्ति के लिए किसी अन्य जन्तु के अधिकार की सम्भावना का मार्ग बन्द कर दिया।"[२]

यह है वह वैज्ञानिक प्रमाण या दलील जो मानव को अभी तक के प्राकृतिक एवं जैविक विकास के क्रम में सबसे उच्च, योग्य और प्रभावी प्राणी सिद्ध करती है। और जिन खोजों तथा तथ्यों के आधार पर हम उसकी यह विशिष्ट स्थिति निश्चित करते हैं, उन्हीं के आधार पर यह भी सत्य है कि मनुष्य एक व्यापक विकास-प्रक्रिया का ही एक अंश है और अपने कुछ विशिष्ट गुणधर्मों के कारण उसमें इसी प्रक्रिया में काफी महत्वपूर्ण एवं निर्णायक भूमिका अदा करने की भी योग्यता है और इधर हाल के वर्षों में जीवविज्ञान के क्षेत्र में जो अध्ययन हुए है उनके आधार पर उसकी इसी भावी भूमिका के विषय में भी कुछ संकेतो का पता चला है। यह भूमिका इस ग्रह या पृथ्वी पर होने वाले भावी विकास के सम्बन्ध में होगी। जूलियन हक्सले के मतानुसार, आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान के अनुसार विकास क्रम में अब जो भी नयी अवस्था पैदा होगी वह इसी मा के माध्यम से होगी। "पूरे जैविक विकास के आरम्भिक तीस खरब से अधिक वर्षों तक तो नैसर्गिक वरण (नेचुरल सेलेक्शन) की अन्धी अवसरवादी गति-धियों से बहुत धीरे-धीरे हुए जैविक-शारीरिक सुधार के ही परिणामस्वरूप आज उसकी सर्वाधिक प्रभावी स्थिति हो गयी है.........जैविक विकास के बाद वाले काल में, जीवधारियों के मानसिक व्यापारों तथा गुण-धर्मों का प्रतिनिधित्व करने वाला मन (माइन्ड) काफी स्पष्ट तथा द्रुतगामी रूप मे [उभ]रा और धीरे-धीरे पशुओं के व्यक्तिगत जीवन पर इसका सबसे अधिक प्रभाव रहने लगा। कालान्तर में इसका परिणाम यह हुआ कि जैविक विकास के लम्बे क्रम में एक नयी अवस्था उत्पन्न होने में इसका योगदान मुख्य हो गया और नयी अवस्था के विकास का चरित्र शारीरिक या जैविक और आनुवांशिक न रह कर सांस्कृतिक अधिक हो गया, यद्यपि विकास के रूप और चरित्र के इस बदलाव का कारण अब भी वही पुराने प्राकृतिक वरण की यान्त्रिक विधि ही रही, न कि मनुष्य की जानबूझ और सोचविचार कर की

२. जूलियन हक्सले : ऐसेज़ आफ़ ए ह्यूमनिस्ट; ३६–३७

गयी कोशिश। इस प्रकार हमने देखा कि मनुष्य ने प्राकृतिक वरण की यांत्रिक विधि के द्वारा ही विकास क्रम में अपनी एक अधिकाधिक प्रभावी स्थिति बना ली।"[३]

शायद अब तो मानव अथवा मनुष्य की इस पूरे जगत अथवा ब्रह्माण्ड में, सबसे अधिक विशिष्टता स्पष्ट हो गयी होगी। अब इस जगत में एक ऐसा प्राणी पैदा हो गया जिसमें 'मन' ऐसी एक चीज़ है जिसने उसे सचेतन, संवेदी और अपनी आवश्यकता और इच्छा के अनुसार व्यवहार-व्यापार करने के योग्य बना दिया। इस प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड में एक नगण्य बिन्दु के समान होते हुए भी अपने मन, अपनी मानसिक, और फलतः बौद्धिक एवं काल्पनिक भी, क्षमता तथा योग्यता की बदौलत मानव व्यापक विकास-क्रम में सक्रिय साझीदार बन कर अब भविष्य मे होने वाले विकास में वह सृष्टिकर्ता या स्रष्टा की भूमिका अदा करेगा क्योंकि अब तो उसके पास इस मन की बदौलत विवेक एवं ज्ञान, कल्पना एवं संवेदनशीलता, नैतिकता, भावना, आकांक्षा आदि सभी कुछ तो है जिससे सृष्टि या रचना की जाती है।

लेकिन यह विशिष्टता—मानसिक क्षमताएं—और इसके फलस्वरूप प्राप्त अपार क्षमता, योग्यता और शक्ति मनुष्य पर एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी भी ला देती है कि कहीं वह स्वयं अपने द्वारा सम्पन्न विकास के साथ-साथ अरबों-खरबों वर्ष के चले आये सम्पूर्ण जैविक विकास को, जिसकी बुनियाद पर ही स्वयं उसकी तमाम उपलब्धियों का भवन बना है, नष्ट न कर दे। और आज के वैज्ञानिक मानववाद के ऊपर यही खतरा दूर रखने की सर्वाधिक ज़िम्मेदारी है। काश यह इसको सफलतापूर्वक निभा पाये।

प्रकृति और व्यक्ति

विश्व के व्यापक प्राकृतिक एवं जैविक विकास के समस्त जीवधारियों के संदर्भ में मानव अर्थात् मानव जाति की विशिष्टता और भविष्य में भी उसकी निर्णायक एवं क्रांतिकारी भूमिका पर विचार कर चुकने के बाद कामरेड

---

३. वही; ८१

राय के समाजदर्शन का जो दूसरा बुनियादी सूत्र हमारे सामने आता है, वह है मानव की मानव समाज में प्रधानता, अर्थात् व्यक्ति-व्यक्ति का महत्व। वैज्ञानिक अथवा रैडिकल (मूलभूत) मानववाद में मानव और वह भी मानव-मानव, व्यक्ति-व्यक्ति का सर्वाधिक महत्व है क्योंकि जिस 'मन', जिस मानसिकता और जिन मानसिक क्रियाओं की बदौलत पशु मानव बना था या बन सका था, उनका ठौर एक-एक मानव के अपने निजी शरीर और शारीरिक व्यवस्था में ही है, जैसा कि आधुनिक जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान ने सिद्ध कर दिया है।[४] यहाँ पर तो सिर्फ मानव-समाज के परिप्रेक्ष्य में अलग-अलग, एक-एक मानव, अर्थात मात्र मानव की गरिमा के मानववादी दावे के औचित्य पर विचार किया जायेगा।

जीव विज्ञान[५] के अनुसार विकास के लम्बे अनुक्रम अथवा सिलसिले में जन्तुओं की मुख्यतः दो शाखाएं होती हैं जिनमें से एक, अकशेरुकी (इनवर्टिब्रेट), के अन्तिम छोर पर कीड़े-मकूड़े होते हैं, और दूसरी, कशेरुकी या मेरुदंडी (वर्टिब्रेट), के छोर पर मानव जाति। विज्ञान की भाषा में इन शाखाओं को संघ (फाइलम) कहते हैं। इन दोनों में सबसे खास अन्तर इनके सामूहिक या सामाजिक या परस्पर व्यवहार के रूप और तरीकों में होता है। कैरिल पी० हेस्किन्स ने इस सम्बन्ध में सबसे अधिक गहराई से काम किया है और इनमें प्रथम अर्थात् अकशेरुकी संघ के व्यवहार को समष्टिवादी (टोटैलिटेरियन) और कशेरुकी संघ के व्यवहार को व्यष्टिवादी या व्यक्तिवादी (इनडिविजुअलिस्टिक) कहा है। समष्टिवादियों का सबसे सफल और उन्नत सामाजिक संगठन चींटियों के समूह और व्यष्टिवादियों के मानवीय जनतंत्र हैं। यद्यपि जैविक विकास के नियमों और प्रयोजनों की दृष्टि से दोनों ही सफल प्राणी हैं, फिर भी दोनों की

---

४. देखिए, 'एम० एन० राय का भौतिक यथार्थवाद' में मनोविज्ञान से सम्बन्धित अध्याय।

५. इस विषय पर यहाँ जो तथ्य दिये गये हैं, वे अमेरिका के मूर्धन्य मानववादी और जीवविज्ञानी सी० जुडसन हेरिक की 'द ईवोल्यूशन आफ ह्यूमन नेचर'' पुस्तक पर आधारित है।

फ ा में ाक विशेष अन्तर है। यदि अकशेरुकी संघ की सफलता जीवनसंघर्ष के बाद भी जीवित रहने वाली उसकी जातियों तथा सदस्यों की संख्या की दृष्टि से है, तो कशेरुकी सघ की सफलता उसके अलग-अलग एकल सदस्यों को इस संघर्ष से और इस संघर्ष के बाद जीवित बचे रहने से प्राप्त होने वाले अनुभव और संतोष की दृष्टि से है।[६]

हर मानव-संस्कृति में ये दोनों ही तरह के सामाजिक संगठन पाये जाते हैं और इनके बीच टकराव हुआ करता है। समष्टिवादी संगठनों की शक्ति एवं कार्य-क्षमता के स्रोत उनके आदिम पाशविक मनोयोग होते हैं जिनकी अभि-व्यक्ति दूसरों को छोटा दिखाकर स्वयं को बड़ा सिद्ध करने में और समूहों के मुकाबले में उनके सदस्यों अर्थात् व्यक्तियों की उपेक्षा करने में होती है। इस प्रकार के संगठनों में व्यावहारिक कड़ाई को मूल्य माना जाता है। इसके मुकाबले में व्यष्टिवादी समाज में—जो स्वभावत: जनतांत्रिक होते हैं संगठनात्मक स्तर पर ढिलायी और लचीलेपन से काम लिया जाता है, हर व्यक्ति को किसी भी क्षेत्र में अपनी क्षमता, योग्यता एवं रचनात्मकता दिखाने और बढ़ाने के अपेक्षत: कहीं अधिक अवसर मिलते रहते हैं, हर व्यक्ति के संतोष की सुविधा रहती है और प्रशासन से अधिक से अधिक सदस्यों की स्वैच्छिक साझेदारी रहती है। अत: इसमें सांस्कृतिक प्रगति की बेहद सम्भावनाएं रहती हैं।

अत:, निष्कर्ष यह निकला कि जैविक विकास के क्रम में जीवधारियों अथवा जन्तुओं के जिस कशेरुकी परिवार में मनुष्य विकसित हुआ है, उसमें व्यष्टि अथवा व्यक्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है।

इसी से सम्बन्धित एक बात और। मनुष्यों के सामाजिक संगठन में व्यक्तिगत तथा, सामाजिक, दोनों प्रकार के कारकों का संयुक्त योगदान रहता है क्योंकि मानव व्यवहार की तह में आन्तरिक सहजवृत्तियों और समाज के अर्थात् वाह्य प्रचार-प्रसार एवं शिक्षा-उपदेश आदि से अर्जित सिद्धान्तों एवं विचारधाराओं की मिली-जुली प्रेरणाएं काम करती हैं। लेकिन पशुओं तथा

६. देखिए, कैरिल, पी० हैस्किन्स : 'आफ् ऐन्ट्स ऐण्ड मेन' और 'आफ् सोसायटीज् ऐण्ड मेन'।

मनुष्यों में यह विशेष अन्तर होता है कि मनुष्य में ये बाहरी या सामाजिक प्रेरणाएँ तभी प्रभाव डाल पाती हैं, जब उसकी आन्तरिक प्रेरणाओं को उनका सहयोग स्वीकार हो, जबकि निरा पशु केवल बाह्य प्रेरणा या उत्तेजना से प्रभावित हो जाता है।

इसी को ऐसे भी समझा जा सकता है। मानवीय आचरण में जैविक (शारीरिक) मूल्य और जानबूझकर प्रयत्न करके अपनाये गये बौद्धिक एवं न्यायसंगत मूल्य, दोनों ही प्रेरक बड़े महत्व के होते हैं---क्योंकि लोग जो कुछ भी करते हैं वे इन्हें मूल्यों के लिए ही करते हैं। काम वे वही करते हैं जिसे वे चाहते हैं और वे चाहते वही हैं जो उनके लिये अच्छा होता है। अब, हो सकता है कि वे जिसे अच्छा समझें, वह वास्तव में उनके लिए अच्छा न हो। और यहीं समाज-विज्ञानी या मानव-विज्ञानी की भूमिका की आवश्यकता होती है। उसके दो काम है। पहले तो वह लोगों को यह बतलाये कि जिन-जिन चीजों को वे पसन्द करते हैं, उनमें से कौन-कौन वास्तव में उनके लिए अच्छी है और फिर ऐसे तरीके खोजें जिनसे उन लोगों को कम अच्छी और कम मूल्यवान चीजों की अपेक्षा इन्हें पसन्द करने के लिए राजी किया जा सके।

यहाँ पर हमें यह न भूलना चाहिए कि विज्ञान का काम यह बतलाना नहीं है कि 'यह करो' और 'यह न करो'। विज्ञान का काम तो इन्सान को इस योग्य बनाना है कि बिना किसी के बतलाये ही वह ठीक और अच्छा काम करे — क्योंकि वह करेगा वही जो उसे, स्वयं को अच्छा लगे। यहां पर हम देखते हैं कि अन्तिम सत्ता, निर्णायक सत्ता उसके 'स्वयं', उसके व्यक्ति-पक्ष की होती है—चाहे वह औरों से, समाज से मेल खाय या न खाय या इसका विरोध ही करे।

जब कभी हमें यह अध्ययन करना होता कि मानवीय व्यवहार क्या, क्यों और कैसे किया जाता है तो हम सामूहिक नहीं बल्कि लोगों के निजी, व्यक्तिगत व्यवहारों को ही समझने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि व्यवहार, क्रिया या कार्य-सम्पन्नता को निश्चित एवं निर्धारित करने वाले प्राथमिक कारक शरीर के भीतर होते हैं, न कि बाहर वातावरण अथवा परिवेश में। मानवीय

व्यवहार की यह एक विशेषता है जो अन्य पशुओं में नहीं होती और जिसके कारण ही मनुष्यों की सामाजिक संरचना उन प्राणियों या पशुओं से भी भिन्न होती है जो झुण्डों में रहते हैं, जो यूथचारी या यूथचर (ग्रेगेरियस) होते हैं—क्योंकि व्यक्ति के शारीरिक संस्थान में ही ऐसी क्षमताएं एवं योग्यताएं होती है जिनसे ऐसी संरचनाओं का बनना सम्भव हो सकता है। यही कारण है कि लोगों के व्यक्तिगत आचरण में उनके व्यक्तिगत चरित्र और अभिप्रेरण या प्रेरणा (मोटिवेशन) सबसे महत्वपूर्ण कारक की भूमिका अदा करते हैं।

जीव विज्ञान के नियमों के अनुसार हर जीवधारी अर्थात् जीवित पिंड या शरीर ही एक व्यक्ति होता है। इसमें और अन्य तमाम प्राकृतिक चीजो मे यह मुख्य भेद होता है, कि उसमें एक आन्तरिक अर्थात् अन्तरस्थ क्षमता होती है जिसके फलस्वरूप वह एक ऐसे ढांचे में या ढंग से रहने योग्य हो जाता है जो उसकी एक अनन्य एवं अद्वितीय तथा आंशिक रूप से स्वरचित विशिष्टता होती है — यद्यपि व्यापक प्राकृतिक एवं जैविक नियमों तथा कार्यकलापो से इसकी कोई बिल्कुल ही स्वतंत्र सत्ता नही होती। इस प्रकार विकसित अथवा उत्पन्न जैविक व्यक्ति की शुरूआत, मोटे-मोटे तौर पर, पैदा होने के समय से होती है और देहान्त के समय उसका अन्त हो जाता है। इस प्रकार जिसे व्यक्ति अथवा व्यक्तित्व कहा जाता है, वह उसका जीवित शरीर होता है और इसके साथ वे सभी चीजें शामिल होती रहती हैं जिनसे उसका व्यावहारिक आदान-प्रदान होता है।

किसी भी व्यक्ति के क्या-क्या गुण-धर्म होते हैं, यह बहुत बड़ी हद तक पिछली अनेकानेक पीढ़ियों के प्रजातीय (रेशियल) अनुभवो पर निर्भर करता है। जीवविज्ञान या जीवों से सम्बन्धित इकाइयों अर्थात् मात्रको (यूनिटों) की यदि क्रमानुसार कोई सूची बनायी जाय तो मानव-व्यवहार के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, दोनों तरह के अध्ययनों के लिए व्यवहार करने वाले एक-एक प्राणी अथवा जीवधारी अर्थात् व्यक्ति का सर्वाधिक महत्व होता है। जिसे व्यवहार या आचरण कहा जाता है वह किसी व्यक्ति के शरीर की गतिविधियो का समग्र अर्थात् समूचा प्रतिमान या ढांचा होता है और इसीलिए सफल समंजन

या समायोजन (ऐडजस्टमेंन्ट) के लिए इस व्यक्तिगत शरीर की अखण्डता अनिवार्य होती है।

इस ब्रह्माण्डीय विकास के परिप्रेक्ष्य में तो व्यक्ति इतना तुच्छ एवं नगण्य लगता है जितने की कल्पना करना भी असम्भव है। लेकिन फिर भी, ज्यो ही यह याद आता है कि यह ब्रह्माण्ड एक यंत्र या मशीन है और व्यक्ति इसी का एक पुर्जा है, एक हिस्सा है, तो यह 'नगण्यता' समाप्त हो जाती है क्योंकि यह ब्र ाण्डीय यंत्र तो स्वचलित होता है और आवश्यकता पड़ने पर अपनी मरम्मत भी स्वयं ही कर लेता है। यही अन्तरस्थ नियंत्रण तो यंत्र की विशेषता होती क्योंकि यह नियंत्रण ही तो एक-एक पुर्जे को निर्णायक बना देता है।

मूलतः, हर मनुष्य अपने व्यवहार में अपनी ही उत्तरजीविता (सर्वाइवल) और कुशलता की पर्वाह करता है और अन्य लोगो तथा चीजों के प्रति उसके दृष्टिकोण का आत्मकेन्द्रित होना आवश्यक है। लेकिन सामाजिक स्थिति मे इस दृष्टिकोण में, स्वयं उसी के प्रति औरों के दृष्टिकोण का प्रभाव भी शामिल रहता है। यह व्यक्ति या व्यष्टि का समाजीकरण होना है और स्वयं उसकी कुशलता उसके अपने समूह या समाज की कुशलता से काफ़ी जुड़ी हुई होती है—इस बात का एहसास व्यक्तित्व तथा व्यवहार के समाकलन (इनटिग्रेशन) पर बड़ा प्रभाव डालता है।

आज तक जितने भी वैज्ञानिक चिंतन तथा कार्य हुए हैं, उन सब की कोई न कोई दिशा थी, कोई न कोई प्रयोजन एवं लक्ष्य था। बहुत बड़ी हद तक उनका उद्देश्य स्वयं विज्ञानियों को और जो लोग इनसे लाभान्वित होते हैं, उन्हे 'संतोष' देना था। आखिर इस 'संतोष' का ठौर कहां होता है ? यह होता है स्वयं इन विज्ञानियों और इन लाभान्वित होने वाले लोगों के 'शरीर' मे ही — न कि विज्ञान में और न इसके द्वारा बनने वाले समाज में।

विकास के लम्बे इतिहास में प्राकृतिक-जैविक नियमों के अनुसार, किसी जाति (स्पीशीज़) या समूह के पूर्व-स्थापित या चालू ढांचे या ढर्रे से उसके जो सदस्य काफ़ी दूर हट जाते हैं, उन्हें आमतौर पर उस समूह से निकाल दिया जाता है या निकल जाना पड़ता है और कालान्तर में, कम से कम उस समूह के

लिए—उनका अन्त हो जाता है। ऐसा होने का ही यह नतीजा है कि प्रकृति को जाति, समूह या समष्टि की संरक्षक और अलग-अलग व्यक्तियों के प्रति लापर्वाह मान लिया जाता है। प्रकृति का यही रूप समष्टिवादी जन्तु-समुदायों का औचित्य सिद्ध करती है।

लेकिन प्रकृति का एक और रूप भी होता है। वह उन एक-एक अर्थात् एकल निष्कासित या विद्रोही प्राणियों की अत्यधिक पर्वाह और मदद करती है जिनमें अपनी नयी परिस्थितयों के साथ समायोजन अथवा समन्वय करने की योग्यता (फ़िटनेस) होती है। वह दर्रे से भिन्न सभी असामान्य एकत्र प्राणियों को ख़त्म नहीं कर देती है। अत: जितने भी विकासीय परिवर्तन और चालू सामाजिक ढर्रो से हट कर भिन्न प्रकार के आन्दोलन होते हैं, सभी ऐसे ही विद्रोही और असामान्य किंतु योग्य (फ़िट) ढर्रो के उभरने और प्रभावी होने पर निर्भर करते हैं।

यद्यपि इसमें कोई शक नहीं कि अवमानवीय (सब-ह्यूमन) स्तर पर विकासीय परिवर्तनों को अलग-अलग करने या समझने के लिए किसी जाति या समूह की पूरी या अधिकाधिक आबादी को ही एक इकाई (यूनिट) मान लिया जाता है, न कि एक-एक, एकल प्राणियों को। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि अवमानवीय अवस्था में जो परिवर्तन होते हैं, वे अधिकतर यांत्रिक या यंत्रवत् होते हैं, उनमें योग्यता या अयोग्यता के लिए प्राणी की जुम्मेदारी का प्रश्न ही नहीं उठता है। लेकिन मानवीय (ह्यूमन) स्तर पर आते ही स्थिति बदल जाती है। इस अवस्था में आकर जो मानव-सामाजिक विकास होता है, उसमें यदि कोई प्रतिभाशाली गुणी व्यक्ति है तो वह किसी आम आदमी की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। और मानव-समाज में ऐसे ही व्यक्तियों की उत्तरजीविता (सर्वाइवल) की सम्भावना सब से अधिक होती है, क्योंकि जैविक विकास का प्रमुख सिद्धांत है: योग्यतम की उत्तरजीविता (सर्वाइवल आफ द फिटेस्ट)। और किसी मानवीय सामाजिक संगठन की जड़ में कुछ विचार (आइडिआज) होते हैं जो उसे बांधे रहते हैं और

इनका प्रसार एवं प्रजनन जीन की अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ी से किया जा सकता है।

व्यक्ति और समाज

ये वो वैज्ञानिक तथ्य एवं खोजें है जिनके आधार पर राय ने कहा. "हमें मनुष्य को समाज का आदि रूप मानना चाहिए ; हर मानव में सम्पूर्ण सामाजिक प्रतिमान अर्थात् ढांचे को विकसित करने की अन्त:शक्ति जन्मजात होती है। इस दृष्टि से, समाज में मनुष्य अर्थात् व्यक्ति का वह स्थान नही होना चाहिए जो किसी दैत्याकार मशीन के पहियों के एक मामूली से दातुए का होता है। अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता छोड़े बिना ही वह अपनी सामाजिक जुम्मेदारी निभा सकता है ; एक स्वतत्र सम्प्रदाय तो स्वतन्त्र मनुष्यों से ही बन सकता है—वर्ना स्वतंत्रता तो बस एक धोखा, एक ढकोसला है। यद्यपि कुछ विषयों में तो केन्द्रीकरण होना आवश्यक है, लेकिन फिर भी आज के अति जटिल सामाजिक सगठन में भी, सामूहिक प्रयत्नों से अपने व्यक्तित्व में निहित अन्त:शक्तियों और सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए सामुदायिक जीवन मे सक्रिय भाग लेने वाला, एक प्रभुतासम्पन्न आदमी के रूप में, कोई भी व्यक्ति अपना स्थान बना सकता है। चूंकि जिस मनोवेग तथा भाव से प्रेरित हो क समाज की रचना की गयी थी, वह स्वतंत्रता की ललक या उत्कट इच्छा थी अ र जिसे 'मानव' नामक उच्चतर जीवधारी ने व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया था, इसलिए व्यक्तियों की सामाजिक जुम्मेदारी के लिए किसी बन्धन या जबरदस्ती की जरूरत नहीं है। सामान्य परिस्थितियों में तो हर व्यक्ति स्वय ही उसे निभायेगा, क्योंकि समाज का विकास और संरक्षण तो आवश्यक ही है ताकि हर व्यक्ति को अपनी क्षमताएँ एवं सम्भावनाएँ अभिव्यक्त करने का अवसर मिल सके। इसलिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता की धारणा से सामाजिक उत्तरदायित्व का कोई विरोध नहीं है।"[७]

आधुनिक विज्ञान, और विशेषत: जैविक विकास की खोजों के अतिरिक्त

---

७ एम० एन० राय: रैडिकल ह्यूमनिज़्म ; ४

राय ने मानव विज्ञान के अध्ययनों की सहायता से भी मानव और व्यक्ति-व्यक्ति को सर्वाधिक महत्व दिया है। उनका कहना है कि समाज व्यक्तियों का है जिसकी रचना व्यक्ति अपने विकास की एक अनिवार्य शर्त के रूप में करता है। व्यक्ति समाज का अविच्छिन्न अंग नहीं, परन्तु समाज व्यक्ति का ही एक वृहद रूप है। "यह एक बुनियादी तथ्य है कि समाज मानव की कृति है। मानव के प्रकट होने से पूर्व समाज नहीं था। इस धरती पर एक-एक व्यक्ति के रूप में ही मनुष्य प्रकट हुए थे। उनके संयुक्त प्रयासों से लड़े गये उत्तर-जीविता के संघर्ष के फलस्वरूप ही समाज का संगठन हुआ। समाज की उत्पत्ति से सम्बन्धित इस दृष्टिकोण का न्यायसंगत परिणाम यह निकलता है कि चूंकि अपने निजी लाभ और स्वतंत्र विकास के लिए मनुष्य (व्यक्ति) ने समाज बनाया, इसलिए, चाहे, आजकल के तकनीकी युग में ही सही, कितना भी जटिल और पेचीदा क्यों न हो, फिर भी सामाजिक संगठन (अर्थात् समाज) की यह जुम्मे-दारी है कि वह हर मनुष्य को, व्यक्तिगत रूप से, अपनी क्षमताओं एव सम्भावनाओं को अभिव्यक्त करने—अर्थात् वास्तविकता में बदलने—की सुवि-धाएँ दे।"[८] और समाज से ऐसी आशा करते हुए राय का इस पर जोर है कि "चूंकि व्यक्ति-व्यक्ति के रूप में नर-नारियों से समाज बनता है, इसलिए सामाजिक कल्याण और प्रगति इन्हीं व्यक्तियों के कल्याण और प्रगति का कुल योग होना चाहिए।"[९]

अतः प्रोफेसर चाँदमल के शब्दों में, राय के मतानुसार, "कुटुम्ब, समुदाय, वर्ग एवं राष्ट्र सामूहिक भावात्मक सत्ताएँ हैं जिनमें कल्पना द्वारा सत्ता प्रतिष्ठित की जाती है। किसी भी संस्था, व्यवस्था या सामाजिक संस्थान का मापदण्ड व्यक्ति है। यदि राष्ट्र की दुहाई देकर और यह कह कर कि अमुक नीति से हमारे राष्ट्र का गौरव बढ़ेगा, कोई नीति राज्य द्वारा निर्धारित की जाती है तो यह भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि गरिमा या गौरव का पद व्यक्ति के साथ ही

८ एम० एन० राय : पालिटिक्स, पावर एण्ड पार्टीज ; १८,
९. वही ; २२

ाथपूर्ण रूप से प्रयुक्त हो सकता है, संरचित राष्ट्र आदि काल्पनिक सत्ता के ;ंदर्भ में नहीं। अतः सामूहिक इकाइयों के नाम पर किसी नीति का औचित्य ताना उन इकाइयों के सदस्यों को भुलावा देना है।"[१०]

जो बात समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध में कही गयी है, वह राज्य और यक्ति के सम्बन्ध के बारे में और भी उपयुक्त है। राज्य समाज की राजनीतिक व्यवस्था का ही नाम है। व्यक्ति समाज को राजनीतिक व्यवस्था का रूप देते जिससे वे अवस्थाएँ एवं उपकरण जुटाये जा सकें और सुरक्षित रह सकें जो व्यक्ति के सुख, समृद्धि और आत्म-विश्वास के लिए अनिवार्य हैं। राज्य का मुख्य प्रयोजन यही है कि वह व्यक्तियों के अधिकारों को उद्घोषित करे, उनके उपभोग के लिए आवश्यक साधन उत्पन्न करे और उनके संरक्षण के लिए उचित क़दम उठाये।

---

१०. आगे के पृष्ठों पर राजनीति-सम्बन्धी अध्याय में इस विषय पर कुछ विस्तार से कहा गया है।

२

मानव स्वभाव का सार : विवेक

वैज्ञानिक मानववादी समाज दर्शन की मूल इकाई के रूप में मानव, मनुष्य अथवा व्यक्ति को मान लेने, पूरे मानव समाज के संदर्भ में एक एक व्यक्ति को प्राथमिकता दे देने और उसे समाज के आदर्श या आदिरूप की मान्यता प्रदान कर देने पर, हमारे सामने इस व्यक्ति की अर्थात् मानव की व्यक्तिगत जुम्मेदारी बहुत अधिक बढ़ जाती है। और वह अपनी इतनी बड़ी जुम्मेदारी कैसे और कहाँ तक निभा पाता या निभा सकता है, यह बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि उसका स्वभाव क्या है। यहाँ पर इसका इतना महत्व नही है कि यह स्वभाव क्या होना चाहिए, जितना इसका है कि प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक रूप में यह होता क्या है—क्योंकि हम लाख चाहा करें कि उसे कैसा होना चाहिए, लेकिन होगा वही, जो प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत वह हो सकता है। अतः इस अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि मानव स्वभाव (ह्यूमन नेचर) का मूल रूप अर्थात् सार (एसेन्स) क्या होता है।

प्रचलित धारणाएँ

सब से पहले यह चीज साफ़ हो जानी चाहिए कि आखिर इस 'मानव स्वभाव' के विषय का मानववादी समाज दर्शन में क्या महत्व है। अभी तक आमतौर पर लोगों की धारणा यह रही है कि मानव स्वभाव जैसा है वैसा ही सदा रहा है और रहेगा ; यह कुछ ऐसे तत्वों से बना होता है या, इसमें कुछ ऐसे तत्व रहते हैं जो अपरिवर्तनीय होते है। फलतः इसमें कोई फेर-बदल नही हो सकता। अब अगर वास्तविकता यही है तो फिर वैज्ञानिक या निरा साधारण मानववादी ही क्यों, किसी भी प्रकार के सामाजिक सुधार या परिवर्तन

की बात करना बेकार है। लेकिन इतिहास इससे उलटी ही सीख देता है क्योंकि जितना कुछ भी इतिहास हमे मालूम है, अब तक न जाने कितने ही सामाजिक आन्दोलन चले हैं और सभी के फलस्वरूप कुछ न कुछ प्रगति अवश्य हुई है। आज भी प्राय: हर देश में सामाजिक सम्बंधों और संस्थाओं में परिवर्तन करने के लिए किसी न किसी प्रकार के—प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी—आन्दोलन चल रहे हैं और इनमें भाग लेने वाले अपने सिद्धांतों तथा कार्यक्रमों के प्रति बड़े ईमानदार होते हैं और छोटी-बड़ी कुरबानी भी करते रहते हैं। अर्थात्, हमारे सामने एक अजीब परस्पर विरोधी स्थिति आ जाती है जिसमें सिद्धांत और व्यवहार एक दूसरे को काटते हैं। आखिर ऐसा क्यों है?

ऐसा इसलिए है, क्योंकि पूरी समस्या पर ग़लत तरह से सोचने की एक परम्परा चली आ रही है और जिसकी वजह से मानव-समाज की न जाने कितनी समस्याएँ ऐसी हैं जो सैकड़ों-हजारों वर्षों से चली आ रही हैं और तरह-तरह के अनेकानेक आन्दोलन चलने के बावजूद वे आज तक हल नहीं हुई है। गलत तरह से सोचने की वह परम्परा यह है कि स्वयं मानव स्वभाव तो ब नहीं सकता है लेकिन अगर सामाजिक संस्थाओं को बदल दिया जाय, तो ये बदली हुई संस्थाएँ मानवस्वभाव को बदल देंगी। मानववादी दृष्टिकोण से व्यक्तियो के मुकाबले में संस्थाओ या संगठनों को यह प्राथमिकता देने का तरीका ही गलत है; क्योंकि यदि यह भी मान लिया जाय कि अच्छी संस्थाओं से अच्छे व्यक्तियों का निर्माण हो सकता है, तो यह भी, यदि अधिक नही तो कम से कम उतना ही, सही है कि अच्छी संस्थाओं का निर्माण अच्छे व्यक्ति ही कर सकते हैं। और इसीलिए मानववादी विचारधारा में व्यक्ति-व्यक्ति को प्राथमिकता दी गयी है। व्यक्ति-व्यक्ति का व्यक्तित्व जितना विकसित एवं प्रगतिशील होगा, इन व्यक्तियों से मिल कर बनने वाला समाज, इनकी बनायी हुई संस्थाएँ और इनके द्वारा संचालित राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था भी उतनी ही विकसित और प्रगतिशील होगी।

मानव स्वभाव के बारे में एक और गलत धारणा मुद्दतों से फैली हुई है। वह ग़लत धारणा यह है कि अपरिवर्तनीय होने के साथ-साथ मानव स्वभाव

का एक विशेष गुण अथवा धर्म है 'विश्वास कर लेना', अर्थात्, किसी बात को बिना समझे-बूझे ज्यों का त्यों मान लेना। इस धारणा के अनुसार, मानवीय समझ-बूझ और ज्ञानार्जन की एक सीमा होती है जिसके आगे नहीं जाया जा सकता, बस विश्वास, बल्कि अंधविश्वास ही किया जा सकता है। इसका साफ़-साफ मतलब यह होता है कि कुछ चीजें, बातें तथा घटनाएँ सामान्य व्यक्ति की समझ से और इस ज्ञात तथा ज्ञेय प्रकृति से परे होती हैं, अर्थात् अज्ञेय तथा अबोध्य होती हैं जिन्हें अलौकिक, इन्द्रियातीत तथा अनुभवातीत कह सकते हैं। और इन्हीं पर विश्वास कर लेना मानव स्वभाव की जड़ है जिसे मिटाया नहीं जा सकता, अर्थात् जो अपरिवर्तनीय होता है।

अत: मानव स्वभाव के बारे में आमतौर पर और काफ़ी लम्बे अरसे से मुख्यत. दो धारणाएँ प्रचलित हैं—१. यह जैसा है वैसा ही हमेशा रहा है और रहेगा तथा इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता ; २. विश्वास कर लेना या मान लेना ही मानव स्वभाव है।

और मानववाद इन दोनों ही धारणाओं को ग़लत ही नहीं, बल्कि किसी भी सामाजिक दर्शन या विचारधारा के लिए खतरनाक भी समझता है क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान उसे ऐसा करने के लिए मजबूर करता है।

मानव विज्ञान एवं जैविक विकास

मानव स्वभाव वास्तव में क्या है, इसका पता लगाने के लिए एम० एन० राय ने दो मौलिक वैज्ञानिक अध्ययनों का सहारा लिया। एक तो मानवजाति (ह्यूमन स्पीशीज) के मानसिक एवं बौद्धिक विकास के छिपे हुए मूल स्रोतों के लिए मानव विज्ञान (ऐन्थ्रोपॉलोजी) की विशेष शाखा प्रागितिहास की खोजों का और, दूसरे, मानव प्रजाति (रेस) की शैशवावस्था तथा किशोरावस्था के लिए जैविक विकास क्रम का। और वह इस परिणाम पर पहुंचे कि मानव स्वभाव में यदि कोई चीज लगातार, बराबर रहने वाली है तो वह विश्वास करना नहीं है ; बल्कि वह है मानवीय विवेक, शक तथा तर्क करने की क्षमता, जो मनुष्य को हर चीज, हर घटना और हर स्थिति को समझने-बूझने के लिए प्रेरित करती है, उकसाती है, मजबूर करती है।

जैविक विकास क्रम और प्रागैतिहासिक मनुष्य की स्थिति के अध्ययन के फलस्वरूप राय को यह भी ज्ञात हुआ कि यह विवेक इस व्यापक विशाल नियमानुशासित भौतिक जगत (ला-गवर्न्ड फ़िज़िकल यूनीवर्स) में होते चले आये जैविक विकास के समूचे निर्धारित क्रम की अभी तक की अंतिम कड़ी है। अर्थात्, यह विवेकशीलता भी मनुष्य के शरीर का एक विशेष गुणधर्म होती है। मानवीय स्तर पर यह उसी प्रकार और वही कार्य करती है जो व्यापक प्रकृति के स्तर पर प्राकृतिक अथवा भौतिक नियम करते हैं।

आइए, अब इसी निष्कर्ष पर जरा विस्तार से विचार कर लें।

हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी बिल्कुल निश्चित रूप से यह कह सकना लगभग असम्भव है कि मानवजाति की उत्पत्ति कब हुई और इसकी कितनी आयु है। मानव विज्ञान, पौराणिक गाथाएँ, महाकाव्य आदि अपने अपने ढंग से अनुमान लगाते हैं। ऐसी हालत में, किसी एक को शत-प्रति-शत सही या ग़लत न मान कर इतना तो कहा ही जा सकता है कि मानवजाति कई लाख वर्ष पुरानी है और इसकी इतनी बड़ी आयु होने के कारण, इसका जो इतिहास हमे मालूम है वह इसके अत्यंत अल्पांश का इतिहास है जिससे मानव जीवन का कोई विश्वसनीय या संतोषजनक परिचय नहीं मिलता है।

ऐसी स्थिति में, मजबूरन हमें व्यापक वैज्ञानिक विधि की मदद लेनी पडती है। यह एक सर्वमान्य वैज्ञानिक तथ्य है कि यह पूरा विश्व, पूरी प्रकृति एक लम्बे विकास क्रम का परिणाम है और मानवजाति की उत्पत्ति उसी व्यापक क्रम में होने वाले जैविक विकास क्रम की ही एक स्थिति है। मानव की आदिम अवस्था की जानकारी के लिए, शारीरिक मानवविज्ञान (फ़िज़िकल ऐन्थ्रोपॉलोजी) उसके मस्तिष्क के विकास का अध्ययन करता है। विकास-क्रम के सामान्य सिद्धांत के अनुसार, मानवजाति की उत्पत्ति अपने पूर्व की जैविक जाति के शारीरिक विकास क्रम का फल है। इसलिए, मानवजाति की शैशवावस्था एवं किशोरावस्था के इतिहास का आधार जैविक विकास क्रम के अन्तर्गत प्राणियों का शारीरिक विकास है। इस वैज्ञानिक विधि और विकासवादी

सिद्धान्त की सहायता से मानवजाति के आदिम इतिहास और उसके बर्बरकालीन जीवन की समस्याओं का हल ढूँढने का संतोषजनक एवं सफल प्रयास किया गया है। अब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मानव की उत्पत्ति किसी अज्ञात-अज्ञेय दैवी शक्ति की विशेष कृपा या किसी विशेष प्रयोजन से नहीं हुई, बल्कि निरन्तर परिवर्तन तथा विकासशील प्रक्रिया में मानव जाति के रूप मे एक नयी जाति की उत्पत्ति हुई और इस जाति का विकास भी जैविक विकास के सामान्य नियमों के अन्तर्गत हुआ और मानव स्वभाव या मानव प्रकृति को भी वही नियम निर्धारित करते हैं।

अब चूँकि विकास के वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार कोई भी स्थिति स्थिर या अपरिवर्तनीय नहीं होती, और न हो सकती है, और यही चीज मानव स्वभाव पर भी लागू होती है, इसलिए यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि मानव स्वभाव कभी बदलता नहीं है; जैसा वह आज है वैसा ही पहले भी था और बाद में भी वैसा ही रहेगा। इसी नाते हम यह भी कह सकते हैं कि, वास्तव में, मानव स्वभाव परिवर्तनीय ही नहीं बल्कि परिवर्तनशील भी है, वर्ना यह कहने और मानने का कोई अर्थ ही न होता कि मानवजाति अथवा मानव-संस्कृति का भी एक इतिहास होता है, उसमें परिवर्तन होते रहते हैं।

अध्ययन की इसी वैज्ञानिक विधि तथा प्रणाली को और गहराई में ले जाकर यदि हम विकास से सम्बन्धित खोजों और ज्ञान का उपभोग करें तो पायेंगे कि जैसे जैविक विकास के पूरे लम्बे क्रम में मणिमाला के सूत्र की तरह जीव (लाइफ़) का स्थान होता है, वैसे ही मानव जाति के अपने पूरे विकास क्रम मे 'मानवपन' या मानवीयता के विशिष्ट लक्षणों का स्थान है। जब तक आदिम मानवजाति अपने निकटतम पशु-पूर्वजों से पूरी तरह से भिन्न नहीं हो गयी, उसी दशा में ही उन लक्षणों अर्थात् मानवपन का जन्म हो चुका था—कम से कम अव्यक्त बीज रूप में। अतः मानवजाति की उत्पत्ति से पूर्व ही 'मानवपन' या मानवीय लक्षणों की उत्पत्ति हो चुकी थी।

यहाँ पर हमें एक और चीज याद रखनी चाहिए। विकास-क्रम के सिद्धांत के अनुसार, जब किसी पुराने से किसी नयी जाति की उत्पत्ति या

शुरुआत होती है, तो उसे विकास क्रम या विकास की प्रक्रिया में उत्परिवर्तन होना कहते हैं क्योंकि कोई नयी जाति एकदम बिल्कुल नयी नहीं होती है, बल्कि वह तो किसी पुरानी चीज का परिवर्तित या विकसित रूप होती है। बिल्कुल शुरू में, यह परिवर्तन या विकास बहुत ही मामूली होता है। अर्थात्, नयी स्थिति में जो भी गुणात्मक परिवर्तन होता है, क्रिया-रूप में यह परिवर्तन बस बरायनाम ही होता है। शरीर-रचना और शरीर क्रिया के मामलों मे दोनों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार, नयी मानवजाति की आरम्भिक और निकटतम पशु पूर्वज की अंतिम अवस्थाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। संरचना और आकार में आदिम मानव और मानवाकार वानर के मस्तिष्कों में भी बहुत ज़रा सा अंतर होता है।

अर्थात्, मानव ने अपने पूर्व के प्राणी के शारीरिक और मानसिक धरातल से अपनी विकास-यात्रा आरम्भ की। इसी को इन शब्दों में भी कह सकते हैं : " नवोदित मानवजाति को 'मानवपन' अथवा मानवीयता के विशेष लक्षण की बुनियाद के रूप में अपने से पूर्व प्राणी की मानसिक और भावात्मक सामग्री विरासत अथवा वंशानुक्रम मे मिलती है। अत: यह 'मानवपन' बिल्कुल आदि के मूल भौतिक पदार्थ के उद्‌भव से चले आये लम्बे जैविक विकास क्रम का सीधा प्रत्यक्ष परिणाम है।"

काफ़ी लम्बे अरसे से द्वैतवादी चिंतन प्रणाली से प्रभावित आम लोगो की यह धारणा रही है कि इस जगत में दो प्रकार की सत्ताएँ शासन करती हैं, अर्थात् यह दो तरह के मूल तत्त्वों से बना है—जड़ और जीव। इसी भेद को लेकर विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएँ भी विकसित की गयीं। लेकिन आधुनिक विज्ञान ने जीव और अजीव के बीच भेद की धारणा को आज खत्म कर दिया है और स्पष्ट प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि जीव की बुनियाद जड मे ही होती है ; जिसे हम जड या निर्जीव पदार्थ कहते हैं, व्यापक विकास के लम्बे क्रम की एक अवस्था में, उसी से जीव की, अर्थात् सजीव पदार्थ की उत्पत्ति होती है। अर्थात् जड और जीव के बीच कारण-कार्य सम्बंध है। विकासवाद की इस मौलिक खोज से परम्परागत कल्पना पर आधारित एकोद्‌भव

या सृष्टि का सिद्धांत निरर्थक हो जाता है और यह बात पक्की हो जाती है कि यह "भौतिक जगत एक नियमानुशासित व्यवस्था है ; जीव अर्थात् सजीव प्रकृति भी इसी व्यवस्था की अंग है। इसी तर्क से यह सिद्ध हो जाता है कि जैविक विकास के क्रम भी प्राकृतिक नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं। अनुभव तथा प्रयोगाश्रित ज्ञान पर आधारित डार्विन और वैलेस की खोजों से इस न्याययुक्त परिकल्पना की पुष्टि होती है। इसी के आधार पर तो विकास के सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ जिससे 'इस सजीव या जीव प्रकृति में विवेक' की खोज हुई।"

'जीव प्रकृति में विवेक' होने की बात एम० एन० राय की अपनी विशेष अभिधारणा है जिसके अनुसार नियमानुशासित भौतिक जगत या विश्व से संदर्भित होने के कारण जैविक विकास एक विवेकपूर्ण प्रक्रिया है। "जीव कोई ऐसी चीज नहीं है जिसकी (वैज्ञानिक) व्याख्या न की जा सके और न इसके पीछे कोई पारभौतिक या आध्यात्मिक प्रेरणा ही होती है। यह तो एक निर्धारित (डिटरमिन्ड) भौतिक विकास क्रम का परिणाम है। आध्यात्मिक दर्शन की भाषा में कहा जा सकता है कि जीव की उत्पत्ति भौतिक जगत मे निहित विवेक (नियमों के रूप में) और तर्क की अभिव्यंजना है। लेकिन विवेक और तर्क स्वतः आध्यात्मिक वस्तुएँ नही हैं। तर्क और विवेक का उस समय तक विचार नहीं किया गया जब तक तथाकथित धर्म के पक्ष में विवेक के इस्तेमाल की आवश्यकता नहीं पड़ी। उस समय विवेक ईश्वरीय इच्छा कहा गया ताकि मानवरूपी या मानवतुल्य (ऐन्थ्रोपोमॉर्फिक) ईश्वर और ईश्वरीय इच्छा के विचारों की उससे पुष्टि की जा सके।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस विवेक का जन्म मानवजाति की उत्पत्ति से पूर्व प्राणिजगत के प्राकृतिक स्वभाव से हुआ था। यह तर्क प्रत्येक वस्तु के अनुभवाश्रित ज्ञान पर निर्भर करता है और परस्पर-सम्बन्ध होने के कारण विश्व की सभी वस्तुओं का अनुभव होता है और इसी अनुभव से वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है और ज्ञान तर्क का सहारा बन जाता है। मानव जीवन के सभी प्रारम्भिक विचार—चाहे वे जादू (मैजिक), जड़पूजा (फ़ेटिशिज़्म),

सर्वात्मवाद (ऐनिमिज्म) हो, चाहे प्राकृतिक धर्म—सभी इसी अनुभवाश्रित ज्ञान पर आधारित तर्क द्वारा निर्धारित हुए थे।"

यह हुई विवेक के रूप में मानव स्वभाव की पहचान जिसके आधार अथवा संदर्भ भौतिक का जैविक जगत विकास क्रम और इस विकास क्रम का नियमानुशासित होना है। अर्थात् वैज्ञानिक ज्ञान के अनुसार, भौतिक जैविक जगत में जो अनिवार्य प्राकृतिक भूमिका 'नियम' की होती है, मानवजाति में वही अनिवार्य भूमिका 'विवेक' की होती है। इसलिए वैज्ञानिक मानववाद का यह एक मूल समीकरण है :

भौतिक जीवन में नियम = मानव जीवन में विवेक।

मनोविज्ञान की देन

अब आइए, मानव स्वभाव के बारे में मनोविज्ञान की खोजों के आधार पर क्या जानकारी मिलती है, इस पर भी विचार करें। इस सम्बन्ध में सूत्र रूप में राय का महत्वपूर्ण कथन है।

"पशुओं अथवा जन्तुओं में जीव, जीवन अथवा प्राण का गुणधर्म 'चेतना' (कान्शसनेस) है। इस 'चेतना' से हमारा तात्पर्य सिर्फ इर्द-गिर्द या निकट परिवेश की चीजों का मात्र 'भान' (अवेअरनेस) होना है। (यह 'भान होता है, किया नहीं जाता है) इसके तुरन्त बाद ही इस निरे 'भान' वाली सहज चेतना में 'प्रतिक्रिया' (रिऐक्शन) करना जुड़ जाता है अर्थात् जिन चीजों का 'भान' होता है, उनके प्रति कुछ क्रियाएँ भी की जाती हैं। जैविक विकास की इसी अवस्था से (प्रतिक्रिया करने वाले) उस शरीर और उसके इर्द-गिर्द के परिवेश के बीच परस्पर-सम्बन्धों के साधन के रूप में एक (नये) स्नायविक तन्त्र अथवा व्यवस्था का बनना शुरू हो जाता है। इस तन्त्र के विकास का चरम बिन्दु होता है मानव-मस्तिष्क (ह्यूमन ब्रेन) का बनना जिसे शरीरक्रिया विज्ञान या दैहिकी (फिजियोलाजी) के स्तर पर 'मन' (माइण्ड) कहा जाता है। अतः जीव के जिस गुणधर्म को 'चेतना' कहते हैं, उसकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति 'मन' है और 'भान' होने के प्रत्युत्तर में की जाने वाली 'प्रतिक्रिया' की

प्रकार के चिंतन के लिए आवश्यक शर्तों पर गौर करें तो ठीक होगा। ऐसा करने पर हम देखते हैं कि "प्रत्ययात्मक चिंतन के लिए भाषा का होना आवश्यक है। इससे यह नतीजा निकला कि मानव जाति का अपने पशु-पूर्वजों से उस समय बिल्कुल सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था जब वह अपने मन की उन बातों अर्थात् विचारों के लिए शब्द गढ़ सकी, अर्थात् भाषा का इस्तेमाल कर सकी, जिनके लिए इससे पूर्व केवल कुछ संकेतों, इशारों, व्यवहारों या कुछ विशेष प्रकार की आवाजों का प्रयोग किया जाता था। लेकिन इस प्रकार के ये विशेष चिंतन तथा व्यवहार पशु अपने बिल्कुल निकट की ऐसी प्रेरणाओं या उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया के तौर पर करते हैं जिनका वे शारीरिक अनुभव कर सके। लेकिन पशु द्वारा ऐसा किये जाने के लिए और मानव-स्तर पर प्रत्ययात्मक चिंतन करने के लिए भी स्मरण शक्ति तो होनी ही चाहिए और पशुओं में भी चाहे कितनी भी मात्रा में हो, स्मरण शक्ति होती अवश्य है। अत. राय का कहना है कि अपने पशु-पूर्वजों से विरासत में पाये मानसिक उपकरणों (योग्यता) को बर्बर मानव भाषा की सहायता से अलग-अलग पहचानने योग्य बना लेता है और इसके परिणाम स्वरूप उसके लिए अपने पिछले अनुभवों को याद रखना और इन अनुभवों के विभिन्न विषयों में भेद करना आसान हो जाता है। और इसका नतीजा होता है प्रत्ययात्मक चिंतन अथवा विचारों की उत्पत्ति, अर्थात् मानसिक प्रतिबिम्बों द्वारा प्रेरित-प्रोत्साहित चिंतन।"

मानव की मानसिकता तथा संवेगात्मकता के जैविक अर्थात् शारीरिक आधार पर जो अध्ययन हुए हैं, उनसे राय ने यही परिणाम निकाला है कि "मानव स्वभाव विश्वास (या अंधविश्वास) करना नहीं है: मानव विज्ञान और संस्कृतियों के इतिहास की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि बर्बर मानव के अंधविश्वास उसकी सहज प्रत्ययात्मक विवेकशीलता से उत्पन्न हुए थे। मानव स्वयं प्रकृति का अंग होने के कारण प्रकृति से बाहर किसी वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकता। यही वजह है कि बर्बर मानव ईश्वर या किसी अन्य आधिदैविक शक्ति सत्ता का विचार नहीं करता था। प्रागैतिहासिक मानव

विज्ञान के विद्वान जान लुँबाक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द ओरिजिन आफ सिविल-लाइजेशन' (सभ्यता की उत्पत्ति) में तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आदिम जातियों में कोई धर्म या मज़हब नहीं था और उनमें जो भी धार्मिक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, वे हमारी धार्मिक भावनाओं से एकदम भिन्न थीं। वे इसी संसार के सम्बन्ध में विचार करते थे। उनके देवी-देवता भी मरते थे। मानवविज्ञानी टेलर और फ्रेज़र ने इसी मत का समर्थन किया है।"

विकास की नयी दिशा

जब यह कहा जाता है कि मानव स्वभाव का सार विवेक है, या, तात्विक रूप में, तत्वतः मनुष्य विवेकशील है, तो हमारा अर्थ केवल यही होता है कि यदि हम आज के, आधुनिक, विकसित मनुष्य से वह सब निकाल दें जिन्हें उसने अपने (मानव जाति के) जन्म से लेकर अब तक अर्जित किया है, तो भी जो चीज़ शेष रह जायेगी, वह होगी विवेकशीलता अथवा विवेक, अर्थात् प्राकृतिक या जैविक अथवा शारीरिक विरासत में अपने पूर्वजों से मिला विवेक ही मानवपन या मानवतत्व का अवशेष है। और इसीलिए हमारा कहना है कि "मानव का स्वभाव 'विश्वास करना' नहीं है, बल्कि उसका स्वभाव तो स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना और सत्य का अन्वेषण अथवा तलाश करना है जिसकी अभिव्यक्ति हमें मानव जाति के उस सांस्कृतिक विकास में मिलती है जिसका आरम्भ आदिम मानव के समय से हुआ था। पारभौतिक, पारलौकिक शक्तियों में श्रद्धा अथवा विश्वास कर लेने से तो मानव को (विरासत में मिले) अपने प्राकृतिक, मूल स्वभाव को ही छोड़ देना पड़ जाता; और अगर ऐसा हुआ होता तो आदिम आज भी अपनी उसी आदिम अवस्था में पड़ा होता। क्योंकि ज्यों ही मानव शरीर ने चिंतनशील शरीर का रूप लिया, त्यों ही 'मन' और 'विचार' भी उस शरीर में, अर्थात् जैविक विकास की प्रक्रिया में दाखिल हो गये और तब से उस बड़े लम्बे काल से चले आने वाले विकास क्रम में अन्यों के साथ वे भी सक्रिय निर्धारी या निर्धारक (डिटरमिनिंग) कारकों की भूमिका निभाने लगे। और चूंकि नियमानुशासित भौतिक जगत से उत्पन्न होने के कारण ये 'मन' और 'विचार' की धारणाएं भी

विवेकी धारणाएं हैं, इसलिए उसके बाद मानव की बुद्धि तथा भावनाओं का जितना विकास हुआ उसका आधार भी विवेक है।"

इस प्रकार जब जैविक विकास में 'मन' और 'विचारों' का योगदान शुरू हो गया और बर्बर मानव ने पशु समाज से अपना नाता लगभग बिल्कुल ही तोड़ लिया, तो सभ्यता एवं संस्कृति की दिशा में आधुनिक मानव ने अपनी यात्रा आरम्भ कर दी—यद्यपि वह रहा आदिम मानव ही—और इस प्रकार व्यापक भौतिक विकास क्रम ने एक नया मोड़ ले लिया।

अपनी इस यात्रा के दौरान, "मानव ने तरह-तरह के देवी-देवताओं की सृष्टि करने से पहले जादू-टोने का सहारा लिया था। धर्म की स्थापना के पूर्व भी टोने-टुटके का जोर था। मनुष्य ने मंत्रों, टोने-टुटकों, प्रार्थना, बलि और जादू के बल से प्राकृतिक शक्तियों को वश में करने के प्रयास किये थे। जेम्स फ्रेजर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि गोल्डेन बाउ' में जादू और विज्ञान को समान भावनाओं के द्योतक कहा है, क्योंकि दोनों की यह बुनियादी मान्यता है कि एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी, जो तरह-तरह की घटनाएं होती रहती हैं, उनके पीछे या बुनियाद में कुछ निश्चित अपरिवर्तनीय नियम होते हैं, जिन्हें पहले से जाना जा सकता है और इनकी भविष्यवाणी करने के साथ-साथ आवश्यकतानुसार तैयारी की जा सकती है।"

हमारे कुछ आदिम पूर्वजों (पुरोहितों-ओझाओं) ने अनुभव से जब देखा कि इन जादू, टोने, मंत्रोच्चारण पूजा-पाठ आदि से प्राकृतिक शक्तियों को बस में नहीं किया जा सकता, अर्थात् इस प्रकृति के मुकाबले में हमारे आदिम जादूगर पुरोहित असफल सिद्ध हो गये तो उन्होंने इस लोक से निराश होकर क्षितिज के उस पार निहारा और प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की : शायद इन्हीं से कुछ काम बने। यह था प्राकृतिक धर्म जिसका कि इस जादू-टोने वाली विचार धारा और व्यवस्था से काफी निकट का सम्बंध था। यहां पर महत्त्व की बात यह है कि जादू-टोना और प्राकृतिक धर्म, दोनों ने ही इस बात की पुष्टि की कि प्रकृति की अपार शक्तियों से मानव अपने को मुक्त कर सकता है। "प्राकृतिक धर्म के देवी-

देवताओं को कोई अलौकिक अमर एवं अनश्वर नहीं समझा जाता था; वे इसी प्रकृति के अंग थे, इसकी विभिन्न घटना-स्थितियों के प्रवर्तक या जन्मदाता और नियंत्रक या संचालक थे। वे मानव के आदर्श अथवा लक्ष्य का प्रतिनिधित्व करते थे—शक्ति सत्ता और स्वतंत्रता की प्रतिमूर्ति थे।"

जादू-टोने और प्राकृतिक धर्म, इन दोनों चिंतन प्रणालियों तथा संस्थाओं (इन्स्टीट्यूशन) के बीच आदिम मानव ने एक और संस्था को जन्म दिया था जिसे आगे चलकर बाद में जीववाद अथवा सर्वात्मवाद (ऐनिमिज़्म) की संज्ञा दी गयी। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु में प्राण अथवा जीव होने की कल्पना की गयी थी और इसी आधार पर कालान्तर में आत्मा की धारणा बनी। अंग्रेज़ी के ऐनिमिज़्म का मूल शब्द 'ऐनिमा' है जिसका अर्थ है प्राण या जीव। जीववाद का जीव या सर्वात्मवाद की आत्मा का आधार पूर्णतया जैविक या शारीरिक था। क्योंकि इतना तो आदिम से आदिम मानव भी देख और जान सकता था कि श्वास चलना शरीर का एक अपरिहार्य गुणधर्म है। अपने इसी प्रत्यक्ष ज्ञान को आगे चलकर उसने अन्य सभी चीजों पर आरोपित कर दिया—क्योंकि वह प्रत्ययात्मक या संकल्पनात्मक चिंतन कर जान चुका था। इस सम्बंध में यह विशेषतः उल्लेखनीय है कि सभी प्राचीन—इब्रानी (हीब्रू), संस्कृत, यूनानी (ग्रीक), रोमी (रोमन), स्लावी तथा अरबी आदि—भाषाओं में आत्मा के लिए श्वास अथवा प्राण के पर्यायवाची शब्दों का इस्तेमाल किया गया है। प्रत्येक वस्तु में जीव की सत्ता मानने वाला सिद्धान्त आदिम मानव के विवेकशील मानसिकता का ही प्रमाण है।

जिस प्रकार जादूवाद ने अपने विचारों तथा विश्वासों को इसी प्रकृति के भीतर प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित रखा था, इसी प्रकार प्राकृतिक धर्म में आदिम मानव ने अनेकानेक प्राकृतिक घटना-स्थितियों और उनसे सम्बंधित अपने अनुभवों की व्याख्या करने का विवेकपूर्ण प्रयास किया था। उसने प्राकृतिक घटना-स्थितियों के कारण ढूंढने की कोशिश की और ठीक-ठीक न समझ पाने से हर महत्त्वपूर्ण घटना-स्थिति—वर्षा, तूफ़ान, चांद, तारों, सूर्य आदि की गति······के लिए अलग-अलग देवता गढ़ लिये। ऐसा करना उस आदिम बर्बर

मानव की सहज अन्तर्जाति विवेकशीलता की अभिव्यक्ति था, क्योंकि इस प्रयास की तह में उसकी यह मान्यता थी कि हर घटना-स्थिति का कोई न कोई कारण होना चाहिए। यहाँ पर हमें यह याद रखना चाहिए कि तब तक सर्वशक्तिमान ईश्वर या किसी ब्रह्माण्डीय शक्ति की धारणा तो थी ही नहीं, और यदि थी भी तो आमतौर पर प्रचलित या मान्यता प्राप्त नहीं थी, वर्ना अलग-अलग कारणों की तलाश ही नहीं होती।

प्राकृतिक धर्म के "देवताओं को ऐसा महान जादूगर माना गया था जो प्रकृति को अपनी इच्छा के आगे झुका सकते थे और सामान्य जादूगर ऐसे साधारण आदमी होते थे जिन्हें प्रकृति के नियमों का ज्ञान था और इस ज्ञान की बदौलत उनके पास शकुन विद्या अथवा दिव्य दर्शन की शक्ति थी।

धर्म और दर्शनशास्त्र के संदर्भ में भी एम० एन० राय इनके निर्धारक तथा प्रेरक कारणों का अध्ययन करके इसी परिणाम पर पहुचे कि इनकी तह में भी मानव के विवेक की मुख्य भूमिका थी। इस सम्बंध में भी वह फ्रेजर का सहारा लेते हैं जिसने कहा है, "जब मानव को यह अनुभव हो गया कि वह अपनी इच्छानुसार प्रकृति पर शासन नहीं कर सकता, उसी समय से उसमें दार्शनिक विचारों ने जन्म ले लिया था।" सांस्कृतिक इतिहास के आधुनिक अध्ययन के आधार पर भी राय इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दर्शन धर्म से पुराना है और अपने इस निष्कर्ष से भी उनके मानव स्वभाव की विवेकशीलता की पुष्टि होती है, "क्योंकि विवेक और तर्क से ही तो दार्शनिक विचारों की सृष्टि होती है। आरम्भिक दर्शनों में मानव बुद्धि ने प्राकृतिक घटना-स्थितियों की किसी आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक शक्ति की सहायता के बिना ही व्याख्या करने की चेष्टा की है।......भारत में वैदिक काल में प्राकृतिक धर्म की यही स्थिति थी। इसके बाद विवेकपूर्ण जिज्ञासा की प्रवृत्ति बढ़ी, जिसका परिचय हमें उपनिषदों में मिलता है जिनसे छः दर्शनों की रचना हुई। वेदान्त और गीता के आधार पर संगठित हिन्दू धर्म तो बहुत बाद में विकसित हुआ। पश्चिमी देशों में मसीही धर्म के आने से कोई ६०० वर्ष पूर्व यूनान में अनेक दार्शनिक विचारधाराएँ बन चुकी थीं जिनमें से अधिकतर भौतिकवादि थी और विवेकवादी तो सभी थीं।"

अतः भौतिक यथार्थवाद के व्यापक जीवन तथा विश्व-दर्शन के सामाजिक-राजनैतिक पक्ष, अर्थात वैज्ञानिक मानववाद का श्रीगणेश इसकी इसी वैज्ञानिक ज्ञान और ऐतिहासिक साक्ष्य पर आधारित इस मूलभूत अभिधारणा से होता है कि मानव स्वभाव का मूल सार विवेकशीलता है, न कि अंधे की तरह विश्वास कर लेना। मनुष्य स्वभावतः अनुभव में आने वाली हर घटना स्थिति को जानना और समझना चाहता है। अर्थात् मानव स्वभाव कोई स्थिर 'ज नहीं है, वह विकसित हो सकती है, बदला जा सकता है। हां, यदि वह अज्ञानता से घिरा होगा, तब तो उसे विश्वास ही नहीं, अन्धविश्वास से भी उसे संतोष और दिलासा अवश्य मिलेगा, जैसा कि प्रागैतिहासिक काल में हुआ था। लेकिन वैज्ञानिकता का वातावरण और साधन मिलने पर, मनुष्य के लिए यह स्वाभाविक ही होगा कि वह जितना जानता है उससे उसे तसल्ली नहीं होगी, निरन्तर और अधिक जानने की कोशिश करता रहेगा—और यही तो विवेक को विकसित करना होता है। ज्ञान की वृद्धि से विवेक का विकास होगा और विवेक के विकास से मानव-व्यक्तित्व की अधिक से अधिक अभिव्यक्ति होती जायेगी।

इस मानव स्वभाव-सम्बधी अभिधारणा के कारण वैज्ञानिक मानववाद अन्य सभी मतों, वादों तथा मानववादों से भी मूलतः भिन्न है, क्योंकि इसके आधार पर हमें 'मनुष्य' जानने की नैसर्गिक क्षमता और भावनात्मक प्रेरणा से सम्पन्न मिलता है जिससे मनुष्य तथा मनुष्य-समाज को बदलने का काम अत्यंत सरल हो जाता है।[11]

---

११. यह पूरे का पूरा अध्याय एम० एन० राय के सबसे महत्त्वपूर्ण एवं बहुचर्चित ग्रन्थ 'रीजन, रोमैंटिसिज्म ऐण्ड रिवोल्यूशन' पर आधारित है और सभी उद्धरण उसी से लिये गये हैं। मानव-स्वभाव के बारे में राय के विचारों को अधिक गहराई और विस्तार से समझने के लिए सी० जुडसन हेरिक की 'द इवोल्यूशन आफ़ ह्यूमन नेचर' और मानव विज्ञानी ऐशले मॉन्टेगू की 'ऐन्थ्रोपॉलोजी ऐण्ड ह्यूमन नेचर' पुस्तकें काफ़ी सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

३

स्वतंत्रता ज्ञान तथा सत्य

हम सभी यह तो जानते ही हैं कि यह भौतिक जगत एक नियमानुशासित व्यवस्था है, इसका शनैः शनैः विकास हुआ है और इसी के परिणामस्वरूप आज हम इसे इसके वर्तमान रूप में देख रहे हैं। अर्थात् यह दुनिया आज जैसी है वैसी ही हमेशा नहीं थी और न भविष्य में ही ऐसी ही रहेगी। इसमें स्वभावतः गति होती है जिसके कारण इसमें प्रति क्षण परिवर्तन होते रहते हैं। और इस गति तथा परिवर्तन के कुछ प्राकृतिक नियम होते हैं जो इसके विकास का संचालन-निर्धारण करते हैं। इसी प्राकृतिक विकासक्रम में इन्ही प्राकृतिक नियमों के प्रभाव में असंख्य प्राणी या जीवधारी पैदा हुए जिनमें मनुष्य या मानव नाम का जीवधारी या पशु अब तक के पूरे विकास-क्रम की सबसे अधिक उच्च उन्नत अथवा विकसित उपज है। इसलिए हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि मनुष्य का अस्तित्व, उसके विकास की प्रक्रिया, उसके आवेग, भावनाएं, क्रियाँ-शक्ति चिंतन एवं विचार आदि भी नियमानुशासित तथा निर्धारित होते है। और अंत में, इसी आधार पर हम कहते हैं कि मनुष्य विवेकशील होता है, अर्थात् मनुष्य के स्तर पर विवेक वही काम करता है जो व्यापक प्रकृति के स्तर पर प्राकृतिक नियम।

अब इस अध्याय में हम मूल्यों (वैल्यूज़) की समस्या पर विचार करेंगे जिसे दर्शनशास्त्र की भाषा से मूल्य-मीमान्सा (ऐक्सियोलॉजी) कहते हैं। मानव समाज मे, और इसीलिए किसी भी समाज दर्शन में, मूल्यों का विषय, शायद सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि मानव में मूल्य-बोध न होता या मूल्यों

का अभाव होता तो आज इस मानव-समाज का अस्तित्व ही न होता। अपने इस मौलिक तथा प्राथमिक महत्व के बावजूद, अधिकतर सामाजिक विचारकों तथा दार्शनिकों ने अपने अध्ययन में इसके साथ वह न्याय नहीं किया है, जो चाहिए था। जो वैज्ञानिकता का दावा करते हैं वे तो इससे बचकर, कतराकर निकल जाने की कोशिश करते हैं। और जिन्हें वैज्ञानिकता से कुछ भी लेना-देना नहीं है वे बस विज्ञान का विरोध, मिथ्या निरूपण तथा भ्रान्त व्याख्या करने में ही दिलचस्पी रखते हैं। चूंकि मनुष्य के अधिकतर व्यवहार-व्यापार मूल्यों के विचारों से प्रेरित होते है और इन्हीं विचारों के आधार पर मूल्यों के विषय में चिंतन किया जाता है, इसलिए अधिकतर विद्वानों एवं पारम्परिक विचारकों ने मूल्यों पर उन्हें बिल्कुल ही संकल्पनात्मक या अभिधारणात्मक समझकर मनोवैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि मूल्यों को भी इस भौतिक जगत की अन्य तमाम चीजों, घटना-स्थितियों और वास्तविकताओं की तरह मान कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बहुत कम ही लोगों ने अपने चिंतन का विषय बनाया है।

मूल्य अथवा मूल्य-मीमान्सा का विषय व्यापक दर्शनशास्त्र में अभी कुछ ही समय से, १९वीं-२०वीं शताब्दियों से शामिल किया गया है। आम तौर से 'मूल्य' शब्द के प्रयोग के पीछे अच्छाई, अच्छेपन, योग्य होने का भाव रहता है और बुराई, बुरेपने के भाव के लिए 'विमूल्य' (डिसवैल्यू) शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। लेकिन 'मूल्य' के पहले आवश्यक विशेषण लगाकर इसी एक शब्द से दोनों भावों का काम भी चला लेते हैं, जैसे अंग्रेजी के शब्द 'टेम्परेचर' का गरम और ठंडे दोनों के अर्थ में इस्तेमाल कर लेते हैं।

वैज्ञानिक आधार

यद्यपि मूलतः मूल्य-मीमान्साओं के अन्तर्गत केवल नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र (एथिक्स) का अध्ययन करते हैं, लेकिन अब इसके विषय-क्षेत्र को बढ़ाकर इसमें नीतिशास्त्र अर्थात् नैतिकता (मॉरैलिटी) के अलावा सौन्दर्यशास्त्र (ईस्थेटिक्स) और कुछ अन्य प्रकार के मूल्य सम्बंधी चिंतन को भी शामिल कर

लेते हैं। सामान्यतः मूल्य-मीमांसा के अन्तर्गत कोई भी ऐसा विषय आ सकता है जिस पर विचार-विमर्श करने के दौरान सही-गलत, अच्छे-बुरे या चाहिए-न चाहिए ऐसे मूल्य-परक शब्दों का इस्तेमाल होता हो।

चूंकि नैतिक मूल्यों की समस्या को आम तौर पर लोग आध्यात्मिक या धार्मिक विश्वासों या अन्ध विश्वासों अथवा परम्परागत विचारों से सम्बंधित करके भावात्मक अथवा संवेगात्मक स्तर पर देखते हैं, इसलिए उनकी समझ में इसका विज्ञान, वैज्ञानिकता या वैज्ञानिक विधि से कोई सम्बंध नहीं है। और इसीलिए ऐसे लोगों को भौतिकवाद या भौतिक यथार्थवाद के अन्तर्गत वैज्ञानिक मानववादी समाज दर्शन में मूल्य-मीमांसा को शामिल करने पर कुछ आश्चर्य अवश्य लगेगा। लेकिन यदि हम अपने परम्परागत पूर्वाग्रहों को, कम से कम कुछ देर के लिए ही सही, स्थगित कर दें, तो देखेंगे कि जब जैविक विकास के दौरान, क्रियात्मक क्षमता अथवा दक्षता प्राप्त करने के लिए परिस्थितियों के प्रति कोई प्राणी अथवा जीवधारी जो सफल समजन (ऐडजस्टमेन्ट) अर्थात् अनुकूलन (ऐडैप्टेशन) करता है, वे समंजन उस जीवधारी के लिए फायदेमन्द होते हैं। इसी को हम ऐसे भी कह सकते हैं कि जीवधारी (या पशु) के लिए उनका मूल्य होता है। हमारी दृष्टि में तो तमाम, और अन्यों के लिए कुछ, मूल्य ऐसे होते हैं जिनकी जैविक अथवा वैज्ञानिक परिभाषा या व्याख्या की जा सकती है क्योंकि वो ऐसे लक्ष्य हैं जिनकी ओर ही सफल व्यवहार निर्दिष्ट किया जाता है।

जीव विज्ञान और मनोविज्ञान की खोजों के आधार पर आज तो हम पक्की तौर पर कह सकते है कि "हर व्यवहार कमोबेश प्रेरित (मोटिवेटेड) रहता है और प्रेरक परिस्थितियों की तुष्टि उसका लक्ष्य होता है। मानव-व्यवहार को आम तौर पर किसी मूल्य या किन्हीं मूल्यों से प्रेरणा मिलती हैं। लोगों को जिन चीजों की जरूरत और इच्छा होती है, वे चीजें मूल्यवान समझी जाती हैं और मूल्य का निवास या ठौर उस 'जरूरत और इच्छा' को तुष्ट या पूरी करने में होता है। अर्थात् जिस चीज की ललक होती है, क्रेविंग या 'अर्ज' होती है, वही मूल्यवान होती है। चूंकि सभी जीवधारियों और

(मनुष्यों और पशुओं) की कुछ न कुछ जरूरतें होती हैं, और उन्हें पूरी कर लेने में भी उन्हें कमोबेश सफलता मिल ही जाती है इसलिए इनके व्यवहार को प्रेरित करने वाले मूल्यों को पहचान लेना और इन मूल्यों तथा उनसे प्रेरित व्यवहारों के परस्पर-सम्बंधों को[१] वैज्ञानिक जैविक शब्दों में व्यक्त करना भी सम्भव है।

अत: 'मूल्य' का भी एक प्राकृतिक इतिहास होना चाहिए और इस इतिहास की खोज का वैज्ञानिक मूल्य-मीमान्सा में एक महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए।

प्राकृतिक अथवा जैविक विकास में ही मूल्यों का स्रोत और इतिहास होने के तथ्य को अपनी मूल्य-सम्बधी धारणा की आधारशिला मान कर ही राय ने लिखा है कि "चूंकि तमाम के तमाम नैतिक मूल्य मनुष्य की जैविक विरासत में प्राप्त किये जाते या किये गये हैं इस लिए उन्हें ऐसी किसी अनुशास्ति या मंजूरी (सैन्कशन) की आवश्यकता नहीं है जो मानव जाति या मानव-अस्तित्व से परे हो।"[२] (यद्यपि जहां पर राय ने अपनी मानववादी मूल्य-मीमान्सा के आदि-बिन्दु के रूप में 'स्वतंत्रता (फ्रीडम) के सर्वोच्च मूल्य' होने का उल्लेख किया है वहां पर यह तो कहा है कि जैविक विकास के पूरे के पूरे क्रम में बहुत गहरे में इसकी—'स्वतंत्रता की ललक' के रूप में मानव-जाति या मानव-अस्तित्व के सार की—जड़ें ढूढी जा सकती हैं, लेकिन पूरे लम्बे विकास क्रम की गहराई में विस्तार से जाने की जरूरत नहीं समझी। शायद इसका कारण यह रहा है कि, भौतिक जगत के नियमानुशासित होने और पूरे विकास क्रम में विवेक की लम्बी श्रंखला की बात वह अन्य काफी विस्तार से कह चुके थे।

लेकिन राय की ही तरह विज्ञानाश्रित चिंतन प्रणाली को मानने और अपनाने वाले सुप्रसिद्ध अमेरिकन जीव-विज्ञानी सी० जुडसन हेरिक ने हमारा काम आसान कर दिया है। इनके अनुसार-विज्ञान, और विशेषत: जैविक विकास

---

१. सी० जुडसन हेरिक : 'दि इवोल्यूशन आफ ह्यूमन नेचर; १३६

२. एम० एन० राय : 'रैडिकल ह्यूमनिज्म'; १७

तथा मनोविज्ञान की खोजों के आधार पर, मूल्य की यह परिभाषा की जा सकती हैं : किसी आवश्यकता, इच्छा, रुचि उत्कंठा या ललक और इसे तुष्ट या पूरा करने वाली चीज के बीच जो सम्बंध होता है उसी को मूल्य कहते है। यही सम्बंध निदिष्ट मनुष्य को किसी इच्छित लक्ष्य की ओर जानबूझ कर निर्दिष्ट व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है। यही सम्बंध जन्तुओ के व्यवहार को भी प्रेरित करता है —जिसका समुचित अनुकूली समंजन की दिशा मे जानबूझकर या अनजाने में ही निर्देशन किया जाता है? सभी जन्तुओं की कुछ न कुछ आवश्यकताएं होती है। जिन्हें पूरा करने की वे कोशिशें करते ह। यह आवश्यकताओं का पूरा करना या तुष्ट करना ही तो 'मूल्य' होता है, चाहे कोई इसे माने या न माने। और किसी इच्छा, ललक या आवश्यकता के तुष्टीकरण की तलाश की मूल प्रेरणा चाहे किसी बाह्य घटना या परिस्थिति से मिले, लेकिन जिस तुष्टीकरण की तलाश की जाती है या प्राप्ति हो जाती है वह तो पूर्णतया निजी, व्यक्तिगत परिलब्धि होती है।

अपनी इसी परिभाषा को मानव की उत्पत्ति से पूर्व के जैविक विकास क्रम पर लागू करने पर पता चलता है कि मूल्यों पर मानवजाति का ो एकाधिकार नहीं है। हो सकता है, मानवजाति के अपने कुछ विशेष मानवीय मूल्य हों, लेकिन विकास की शृंखला में जन्तुओं के क्रियातंत्र के उत्तरोत्तर विस्तार के साथ-साथ ही, प्राकृतिक या जैविक मूल्यों का भी एक समानान्तर अनुक्रम बनता गया है। अत: जैविक विकास की पूरी शृंखला में पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं, दोनों क्षेत्रों में जो असंख्य जातियां और उपजातियां विकसित अथवा उत्पन्न हुईं और इन सभी का अपना-अपना इतिहास बना, इन सभी जातियों तथा उपजातियों के अपने अलग-अलग मूल्य भी विकसित हो गये।

अत: हमारी परिभाषा के अनुसार पूरे जीव जगत में मूल्य अन्तर्भूत है, अर्थात् उसमें मूल्य या मूल्यों का होना स्वाभाविक है, अनिवार्य है। पशु अर्थात्, जन्तु जगत में तो, हर प्राणी के हर व्यवहार के पीछे किसी न किसी मूल्य की प्रेरणा रहती ही है। विकास की शृंखला में जब हम मानवजाति पर आते हैं तो मानव-व्यवहार में कुछ स्पष्टत: विशेषताएं मिलती हैं और कुछ

पुरानी विरासती आदतें। ज्यों-ज्यों मानव अपने पशु-पूर्वजों से भिन्न होता गया, त्यों-त्यों उसकी विशेषताएं भी उभर कर सामने आती गयीं। इन्हीं विशेषताओं में विवेक, चेतना, कल्पना आदि ने अपना प्रमुख स्थान बना लिया। लेकिन फिर भी विरासत में मिली सहज प्रवृत्तियों से एकदम साथ नहीं छूटा।

फलत: मानवीय स्तर पर, उसके व्यवहार की प्रेरणा भी दो तरह से काम करने लगी : एक तो अपने इर्द-गिर्द के बाह्य वातावरण की ओर निर्दिष्ट और दूसरे, अपने भीतर इच्छा और उसकी तुष्टि की ओर। मानवीय प्रेरणा अथवा अभिप्रेरण की क्रिया चेतन और अचेतन दो तरह की होती हैं। मानवीय प्रेरणा-प्रक्रिया के स्रोत का अधिकांश तो अचेतनावस्था में रहता है और इसलिए उन्हें पहचानना कठिन होता है और अक्सर होता यह है कि अगर उन्हें मनो-विश्लेषण या किसी अन्य विधि से पहचान भी लिया जाता है, तो उसे लोग मानने से इन्कार करते हैं।

प्रेरण या अभिप्रेरण (मोटीवेशन) के विषय में यहां और विस्तार में न जाकर अत्यंत संक्षेप में, या संकेत रूप में इतना कह देना जरूरी है कि इसकी प्रक्रिया के काफी बड़े अंश का सम्बंध हमारी उन शारीरिक, जैविक और प्राण-रक्षात्मक क्रियाओं अथवा घटनाओं से होता है जो हमें अपने पशु तथा आदिम मानव पूर्वजों से या अपने ही जीवन की अति आरम्भिक शैशवकालीन अनुभवों की विरासत में मिलती है। और इसीलिए हमें पूरे जैविक विकास की लम्बी प्रक्रिया की छानबीन करने की जरूरत होती है।

आदि मूल्य : स्वतंत्रता

और एम० एन० राय ने इसी छानबीन के बाद जैविक प्रेरण को पूरे मानव इतिहास में ढूंढने की कोशिश की ताकि प्रकृति, जीवन (या जीव) और समाज, अर्थात् मानव समाज, तीनों में एक भौतिक और सहज-स्वाभाविक परस्पर-सम्बंध या सिलसिला कायम किया जा सके। इसी कोशिश के फलस्वरूप वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे : "रैडिकल (या वैज्ञानिक) मानववाद की मूल्य-

मीमान्सा 'स्वतंत्रता' को सर्वोच्च और अन्य तमाम मूल्यों का उद्गम मानती है। 'स्वतंत्रता' जीवन का सर्वोच्च मूल्य इसलिए है, क्योंकि स्वतंत्रता का आवेग अथवा अन्तःप्रेरण (अर्ज) ही मानव-अस्तित्व का सार होता है। सच तो यह है कि जैविक विकास की पूरी प्रक्रिया में और उसके आरम्भ तक में यह मिल सकता है। चूँकि मानव की जैविक विरासत से ही सब नैतिक मूल्य उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन्हें ऐसी किसी मंजूरी या अनुशास्ति की आवश्यकता नहीं है जो मानव अस्तित्व से परे हो। अतः, नैतिक होने के लिए, सिर्फ मानव होने की जरूरत है, किसी दैवी या रहस्यमय पारभौतिक अनुशास्ति (सैन्कशन) की नहीं। मानववादी नैतिकता विकासवादी या विकासात्मक होती है।"[3]

अपनी इसी बात को कुछ और आगे बढ़ाकर जैविक विकास की लम्बी प्रक्रिया में मानवजाति के विकसित हो जाने अर्थात् मानव-समाज की उत्पत्ति से शुरू हो जाने वाली अवस्था पर इसी स्वतंत्रता की अन्तःप्रेरणा को ढूँढ़ते हुए राय ने लिखा है : ज्यों ही मानव ने इस पृथ्वी पर जन्म लिया, त्योंही मानवजाति को मात्र अपनी जान बचाने के लिए अपने इर्द-गिर्द के परिवेश एवं पर्यावरण से संघर्ष शुरू कर देना पड़ा। स्वतंत्रता के लिये निरन्तर चलने वाले संघर्ष की वह शुरुआत थी। तब से आज तक की तमाम मानवीय उपलब्धियां सांस्कृतिक प्रगति, वैज्ञानिक ज्ञान, कलात्मक कृतियां सभी के पीछे यही स्वतंत्रता की मूल प्रवृत्ति अथवा अंतःप्रेरणा ही काम करती रही है। स्थिति का पूरा-पूरा विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि यह पूरे का पूरा विश्व या जगत ही मानव-अस्तित्व का परिवेश एवं पर्यावरण है और चूंकि यह असीम है, अपार है, इसलिए मनुष्य का अपने जीवन-रक्षार्थ लड़ा जाने वाला यह संघर्ष भी अनन्त है, शाश्वत है; वह इस पूरे विश्व पर कभी भी विजय नहीं पा सकेगा। अत, उसका स्वतंत्रता का यह संघर्ष भी कभी नहीं खत्म होगा।"[4]

इतना सब कहने के बाद भी, शायद कुछ लोग यह प्रश्न उठाय कि

---

३. वही १७

४. वही; १७

आखिर 'स्वतंत्रता' है क्या ? इसका सही-सही उत्तर हमें मानव-इतिहास के अध्ययन से मिल सकता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, स्वतंत्रता मानव-जीवन की ही एक प्रवृत्ति है—बल्कि जिसे हमने विवेक या विवेकशीलता कहा है, उसी का एक अविच्छेद्य पक्ष है। और मानव की यह मौलिक अन्त:प्रेरणा अथवा मानवपन का मूल गुण-धर्म उसमें जन्म से होता है, स्वाभाविक है, प्राकृतिक है। अत: शारीरिक रूप में विद्यमान गुणों तथा क्षमताओं के सामान्य विकास तथा अभिव्यक्ति के मार्ग से हर प्रकार के अवरोधों तथा रुकावटों को दूर करना, उन्हें खत्म करना ही स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना है, स्वतंत्रता का व्यवहार है। इतिहास में स्वतंत्रता का संघर्ष या आन्दोलन हम आदि काल से पाते हैं; कभी उसे मोक्ष कहा गया, कभी मुक्ति, कभी निजात, और कभी केवल साधारण शब्दों में उसे स्वतंत्रता कहा गया है। यहां पर प्रश्न उठता है कि आखिर मनुष्य ने ऐसा किया ही क्यों ? उसने ऐसा इसलिए किया क्योंकि स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करना, उसे प्राप्त या अनुभव करने की इच्छा या आवश्यकता महसूस करना, अर्थात् मानवीय गुणों अथवा क्षमताओं के विकास तथा अभिव्यक्ति को अनुभव करना हर मानव का शारीरिक गुण है। कोई भी कार्य करने के लिए मनुष्य में उसके लिए उपर्युक्त तथा आवश्यक शारीरिक गुण होना अनिवार्य है। चूँकि सामाजिक विकास भी मानवीय व्यवहार का ही एक परिणाम है, इसलिए यह व्यवहार होने से पूर्व मनुष्य में इसके लिए इच्छा होना ज़रूरी है और इच्छा होने के लिये उसके शरीर के किसी न किसी अंग में इसके लिए आवश्यक गुण अवश्य होना चाहिए। फलत: समाज मनुष्य के उसी शारीरिक गुण की रचना है, कृति है। मनुष्य में विद्यमान यह प्राकृतिक, स्वाभाविक गुण ही समाज और समाज के हर अंग की जननी है। जननी की अपेक्षा जनित को प्राथमिकता नहीं दी जा सकती है क्योंकि ऐसा करना न तो अनुभव के अनुकूल है और न न्यायसंगत।

आखिर स्वतंत्रता का यह प्राकृतिक या जैविक गुण क्या है ? विज्ञान की दृष्टि से गुण कोई रहस्य अथवा अनिर्वचनीय तत्व नहीं है। आप किसी बंधे हुए पशु को ज्यों ही खोलते हैं, वह तुरंत छलांग मार कर भागने लगता

है। रस्सी को तुड़ा कर या उसके खुलने पर पशु का भागना ही स्वातंत्र्य-संघर्ष है। किसी भी जीवित प्राणी में अपने जीवन, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करने की प्राकृतिक क्षमता अथवा गुण होता है: मनुष्य का स्वातंत्र्य-संघर्ष उसी अस्तित्व-संघर्ष को ऊंचे, मानवीय—संवेग तथा बुद्धि के—स्तर पर जारी रखना है। आदिम मनुष्य ने अपना प्रथम संघर्ष इसलिए किया था, क्योंकि उसे अपने वातावरण से स्वतंत्र होना था, उसे जंगली पशुओं से लड़ना था, उसे मृत्यु से बचने के लिए भोजन सामग्री जुटानी थी। अर्थात् उसे अपने इर्द-गिर्द के उस प्राकृतिक वातावरण के विरुद्ध संघर्ष करना था जो उसके मात्र अस्तित्व के लिए घातक था। जीवन-रक्षा की लड़ाई ही उसकी स्वतंत्रता की लड़ाई बन गयी।

स्वतंत्रता और सामाजिक विकास

अब यदि हम मानव समाज की रचना और विकास के लम्बे इतिहास पर गौर करें तो ज्ञात होगा कि इसका स्रोत भी मानव में विद्यमान यही स्वतंत्रता का स्वाभाविक सहज गुण था। इसी गुण के फलस्वरूप, उसने पहले अपने अस्तित्व की रक्षा की, फिर अपने रक्षात्मक साधनों को जुटा-जुटा कर प्राकृतिक समाज के समानान्तर एक अपने (मानव) समाज का निर्माण किया और फिर अपनी जीवन-सम्बन्धी परिस्थितियों में सुधार करने की सोची। अर्थात् स्वतंत्रता का गुण ही उसे सामाजिक विकास, उत्थान, प्रगति आदि के लिए प्रेरित करता रहा। सामाजिक विकास या परिवर्तन के आर्थिक नियतत्व-वाद (डिटरमिनिज्म) के समर्थक अर्थात् आर्थिक परिस्थितियों को प्रधानता एवं प्राथमिकता देने वाले समाज के विकास को उत्पादन-साधनों पर आश्रित मानते हैं, उनके अनुसार मनुष्य की मानसिक तथा बौद्धिक शक्ति उसके उस व्यवहार पर आधारित होती है, जिस व्यवहार से वह अपनी जीविका का उपार्जन करता है। आर्थिक नियतत्ववाद की यह धारणा एकदम झूठ नहीं है, लेकिन है केवल अर्धसत्य। इस सिद्धांत को मानने वाले इस प्रश्न की उपेक्षा कर जाते हैं कि आखिर वह कौन सी प्रेरक शक्ति थी, जिसने मनुष्य से

सर्वप्रथम उत्पादन-साधन अथवा औज़ार बनवाया। यह बात तो निर्विवाद सत्य है कि सर्वप्रथम उत्पादन से भी पूर्व मनुष्य तो अवश्य ही रहा होगा। आखिर उस प्रथम उत्पादक मनुष्य ने यह औज़ार बनाया ही क्यों? इसके उत्तर के लिए हमें समाज बनने से भी पूर्व के मनुष्य की स्थिति पर दृष्टि डालनी होगी। अजीव पदार्थ से जीव पदार्थ और फिर उसके बाद की जीव-विकास-शृंखला में असंख्य प्रकार के जीवधारी शरीरों का निर्माण होता गया और अभी तक के प्राप्त ज्ञान के अनुसार मनुष्य उस विकासक्रम का सबसे अंतिम तथा सर्वाधिक विकसित शरीर है। यह मनुष्य अपने उन्नत रूप में, अर्थात् पशु से भिन्न रूप में किस समय पैदा हुआ, इसका प्रत्यक्ष अथवा प्रयोग-प्रमाण मिलना तो असम्भव है, लेकिन मानव-विज्ञान के अध्ययन में ऐसे अवसरों पर न्याययुक्त कल्पना तथा क्रमिक विचारबद्धता की सहायता से यह धारणा बनायी जा सकती है कि जीवन-रक्षा का संघर्ष करते-करते--जिसमें असंख्य तो मर गए और कुछ बच भी गये--किसी बचे हुए बनमानुस को यह सूझा कि ऊंचे पेड़ पर लगे फल को तोड़ने के लिए उसने हाथ में एक टूटी पड़ी डाल ले ली। उसके बाद वह अक्सर ही ऊंची चीज़ों को पाने के लिए इसी प्रकार की डाल या लकड़ी से सहायता लेने लगा, अपने छोटे हाथों से वही काम लेने लगा, जो लम्बे-लम्बे हाथों से ही हो सकता था। फलतः उसे अब अपने हाथ बढ़ाने की ज़रूरत नहीं रह गयी। इसी प्रकार जब उस बनमानुस या बानर ने देखा कि वर्षा का पानी कुछ गड्ढों को छोड़कर अन्य स्थान पर सूख जाता है तो उसने गड्ढे बनाना सीखा और इनसे भी काम नहीं चला तो गड्ढे की तरह के घड़े बनाना शुरू किया।

आज लकड़ी से फल तोड़ने और घड़ा बनाने में कोई विशेष बात नहीं है। लेकिन मानव-इतिहास के उस आरम्भ काल में इस प्रकार की घटनाओं का अत्यन्त क्रांतिकारी महत्व था। और इस प्रकार की क्रांतिकारी घटनाओं ने जीवधारियों के शारीरिक विकास की गति को सामाजिक विकास की दिशा में मोड़ दिया। अब पशु को अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए अपने शरीर को प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल नहीं बनाना पड़ता है, बल्कि वह स्वयं वाता-

वरण को अपनी जीवन-रक्षा के अनुकूल बनाता है। आखिर वह सर्वप्रथम औज़ार अथवा साधन—डाल और घड़ा आदि—कैसे बने ? और किसने बनाये ? उन्हें बनों में रहने वाले आदिम मानव ने प्राकृतिक सीमाओं और कठिनाइयों से बचने के लिए बनाया और ऐसा कराने की प्रेरक शक्ति का जन्म उसके मस्तिष्क में हुआ और मस्तिष्क की रचना उसके शारीरिक विकास का परिणाम थी और शारीरिक विकास का क्रम अपने में पूर्ण है। आर्थिक नियतत्ववाद इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि मस्तिष्क ही वह सर्वप्रथम यंत्र, औज़ार अथवा साधन था जिसने मनुष्य को उसके पुरखो से भिन्न कर दिया, शारीरिक विकास का एक ऐसा नया क्रम शुरू कर दिया जिसने अंत में सामाजिक विकास का रूप ले लिया। अतः, पहले मस्तिष्क, फिर उसका गुणधर्म अर्थात् विवेक और कल्पना, और फिर इर्द-गिर्द के वातावरण अथवा परिवेश के प्रति चेतना और उनसे होड़ लेकर उनसे स्वतंत्र होने की उत्कंठा अथवा ललक। कहने के लिए मैंने इन सबको एक के बाद एक करके कह दिया, लेकिन वास्तव में यह सब वर्तमान मानव शरीर के बनते ही लगभग एक साथ ही होने लगे थे और होते हैं।

अतः यदि विवेक मानव का एक जैविक अथवा शारीरिक गुणधर्म (बायोलाजिकल प्रापरटी) है तो स्वतंत्रता की ललक या अंतः प्रेरणा उसी की वह अभिव्यक्ति अथवा क्रिया है जिससे मानव समाज की उत्पत्ति हुई और समाज के विकास की भावना का स्रोत मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भावना का ही एक विकसित रूप है। और चूँकि किसी भी समाज दर्शन का आधार उसकी मूल्य व्यवस्था होती है, इसलिए वैज्ञानिक मानववाद की मूल्य-व्यवस्था का आदि, प्रथम और सर्वश्रेष्ठ मूल्य 'स्वतंत्रता' है और अन्य तमाम मूल्य इससे ही उत्पन्न तथा विकसित होते हैं—जबकि अन्य समाज दर्शनों में स्वतंत्रता एक साधन के रूप में भूमिका अदा करती है।

स्वतंत्रता के लिए ज्ञान

मानववाद की मूल्य-व्यवस्था में स्वतंत्रता के बाद दूसरा स्थान 'ज्ञान' (नॉलिज) का है, क्योंकि इसके बिना स्वतंत्रता की आवश्यकता अथवा अंत. प्रेरणा पूरी नहीं हो सकती है।

अब तक इतना तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि मनुष्य किन्हीं ऐसी काल्पनिक अथवा अबोध्य-अज्ञेय शक्तियों के खिलवाड़ का खिलौना या उनकी मनमानी लीला का दास नहीं है। चेतना, प्रतिक्रिया, बुद्धि, इच्छा, सहज प्रवृत्ति या अन्तर्दृष्टि आदि सभी मानवीय विशेषताओं अथवा गुण-धर्मों को हम समझ चुके हैं कि वर्तमान शरीर-रूप में आने से काफी पहले ही जैविक विकास की प्रक्रिया में ही इनकी जड़ें हैं। इसी लम्बे विकास-क्रम में इसने चिंतन, कल्पना, स्मृति तथा भाषा ऐसी विशेषताएं भी पैदा कर ली हैं जिन्हें मानव स्तर पर ही पूर्णतया विकसित होने की सुविधा मिली।

इन सबका ही यह परिणाम है कि मनुष्य के सबसे निकटतम पशु-पूर्वज और काफी लम्बे काल तक आदिम मानव ने भी अपने अस्तित्व एवं प्राणों की रक्षा के लिए जो जैविक संघर्ष स्वयं अपने शरीर के यांत्रिक अनुकूलन से लड़ा, पूर्णतया विकसित मनुष्य ने उस यांत्रिक अनुकूलन का तरीका छोड़ दिया; अर्थात् उसका संघर्ष अब यांत्रिक नहीं रह गया, बल्कि इसकी जगह वह सप्रयोजन एवं सोद्देश्य होने लगा। अब प्रकृति पर नियंत्रण तथा विजय पाने के लिए वह सप्रयोजन तथा स्वैच्छिक प्रयत्न करने लगा और इसी सप्रयोजनता ने उसे पशुओं के समाज से बिल्कुल ही अलग कर दिया। फलतः मात्र जीवन-रक्षा के लिए लड़े जाने वाले अन्धे संघर्ष ने अब स्वतंत्रता के लिए जानबूझ कर, सोच-विचार कर की जाने वाली तलाश का रूप ले लिया। प्रकृति पर विजय पाने के लिए प्रकृति को, प्रकृति के अंग-अंग को जानना-समझना भी आवश्यक हो गया। मानव जीवधारी के शरीर में एक अति उन्नत मस्तिष्क और उससे सम्बद्ध स्नायुतंत्र तथा मानवीय मानसिकता का विकास तो हो ही चुका था, जिसके फलस्वरूप उसमें हर चीज को जानने समझने की इच्छा तथा कोशिश की सहज नैसर्गिक प्रवृत्ति थी और चूंकि अनुभव से भी उसने सीखा कि उसकी जानकारी तथा ज्ञान के क्षेत्र का जितना अधिक विस्तार होता है, प्रकृति एवं परिवेश की दासता से उतनी ही अधिक स्वतंत्रता भी उसे मिलती जाती है। इस प्रकार ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ उसके अस्तित्व की रक्षा ही नहीं बल्कि सार्थकता भी सिद्ध होती गयी।

यह ज्ञान क्या है और कैसे प्राप्त होता है ? प्रकृति में अनेकानेक, असंख्य जीवित तथा निर्जीव चीजें है जिनमें स्वयं मनुष्य भी शामिल है; इन सबके होने का, अस्तित्व का भान तथा बोध होना और इन सबके बीच के परस्पर-सम्बधों और इन सबसे अर्थात् पूरी प्रकृति से स्वयं अपने सम्बंधों की अधिक से अधिक समझ होना ही ज्ञान है। इस ज्ञान से स्वतंत्रता मिलती ही नही है, बल्कि मनुष्य उसका भोग भी करता है, अपने इर्द-गिर्द के परिवेश को—जिसमें पूरा विश्व आ जाता है—अपनी इच्छा एवं आवश्यकता के अनुसार रचना करता है और इसी के साथ-साथ स्वयं अपने व्यक्तित्व, अपनी क्षमताओं को भी विकसित करता रहता है।

यहाँ पर हमे एक बात बराबर याद रखनी चाहिए। चूँकि यह विश्व, यह प्रकृति, इसकी और इसमें विद्यमान चीजें और इन सबके परस्पर-सम्बंध—में सभी असीम है, इसलिए इनका जो भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह ज्ञान इनके सत्य, इनकी वास्तविकता का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता, बल्कि पूर्ण सत्य के केवल सन्निकट होगा, लगभग होगा। और इसीलिए इस दृष्टिकोण से देखने वाला मनुष्य जिस स्वतन्त्रता की कल्पना करता है, वह कोई निरी भ्रामक, असम्भव मृगतृष्णा नहीं होती है, बल्कि निरन्तर शनैः शनैः प्राप्त होने वाली एक आदर्श होगी। मानवीय विकास का इतिहास इसका साक्षी है कि किस प्रकार ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य स्वतन्त्र होता गया।

ज्ञान की विश्वसनीयता

परम्परागत तरीके से सोचने वाले शास्त्रीय दार्शनिकों ने ज्ञान की विश्वसनीयता के सम्बंध में शंकाएं उठायी हैं। यद्यपि इनका समाधान 'वैज्ञानिक ज्ञान मीमान्सा'[५] पर किये गये विचार में मिल जाना चाहिए, लेकिन फिर भी प्रसंगवश यहां भी इस सम्बंध में कुछ विचार कर लेना चाहिए।

जैसा अभी कहा गया है, हमें जो भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह वास्तविकता अर्थात् यथार्थ का ज्ञान होता है जिसमें सम्पूर्ण प्रकृति तथा मानवीय

५. 'भौतिक यथार्थवाद' में इस पर विशेष रूप से विचार किया गया है।

चेतना भी शामिल है—चाहे हमारा ज्ञान आंशिक ही क्यों न हो। लेकिन इसके साथ-साथ, इसमें कोई शक नहीं है कि प्राप्त ज्ञान की अन्तर्वस्तु पूर्ण वास्तविकता का ज्ञान न होकर, कितना भी अधिक और सही होने पर भी उसके सन्निकट या लगभग ही होता है और, इसके अलावा, उस पर उसके ज्ञाताओं की अपनी-अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं, दृष्टिकोण तथा रुचि-अरुचि का प्रभाव भी रहता है। अत: ऐसा ज्ञान सर्वव्यापी अथवा सामान्य और वास्तव में वास्तविक, निष्पक्ष अर्थात् वस्तुनिष्ठ (ऑबजेक्टिव) कैसे हो सकता है और ऐसा न होने पर विश्वसनीय कैसे होगा?

इस सम्बंध में हमें यह न भूलना चाहिए कि "मानवीय ज्ञान के आत्मनिष्ठ या व्यक्ति-निष्ठ (सबजेक्टिव) हो जाने भर से उसकी अन्तर्वस्तु (कन्टेन्ट) की वस्तुनिष्ठता खत्म नहीं हो जाती। विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठतावादी सापेक्षवादी (रिलेटिविस्ट) ज्ञानमीमांसा में यह न्यायदोष होता है कि वह उस सर्वव्यापी सातत्य (कॉन्टिन्यूअम) अर्थात् अविछिन्न निरन्तरता को नहीं स्वीकारता है जिसके कारण मनुष्य के लिए बिन्दु-बिन्दु घटनाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना सम्भव हो पाता है। इसलिए, (इस ज्ञान द्वारा अर्जित) सत्य अपनी अनुभवाश्रित सन्निकटता और व्यक्तिगत प्रभाव के बावजूद (इस ज्ञान द्वारा अर्जित) सत्य का एक सामान्य और स्पष्ट संदर्भ होता है। इस संदर्भ के बिना मानव-प्रगति, सहयोग, समाज, कला, विज्ञान, तकनीक तथा किसी भी प्रकार की रचनात्मकता सम्भव नहीं हो सकती।"[६]

अत:, वस्तुनिष्ठ होने के लिए ज्ञान का संदर्भ अनुभव तथा ज्ञानार्जन करने वाले व्यक्ति से परे का अर्थात सार्वजनिक होना चाहिए ताकि मानवानुभव के विभिन्न अंशों को मिलाकर व्यक्ति की मर्यादा अथवा सच्चरित्रता का एक चित्र बनाया जा सके, सामाजिक सहकार-सहयोग का एक आधार बनाया जा सके।

ज्ञान केवल अनुभवाश्रित (एम्पिरिकल) हो सकता है। लेकिन हमारा

---

६. एलेन राय तथा शिवनरायण राय: 'इन मैन्स ओन इमेज'; १५४-५५,

मतलब इन्द्रियार्थवादी अनुभववाद से नहीं है। हमारा मतलब उस ज्ञान से है जिसमें समानताओं और विशिष्टताओं का पता लगाते हुए मानवानुभवों का समन्वय किया गया हो। ऐसी समानताओं का पता लगाया जा सकता हैं क्योंकि ये इसी भौतिक जगत में घटित होती हैं—और इनका अस्तित्व मनुष्य की चेतना में ही नहीं है, बल्कि इनका अस्तित्व ज्ञान का विषय तभी बनता है जब मनुष्य स्वयं अपने सहित इस भौतिक जगत के सम्पर्क में आता है। ऐसा कभी नहीं हुआ है (और न भविष्य में ही हो सकता है) कि मनुष्य ने इस जगत के तमाम सम्भव तत्वों, उनके विवरणों, उनकी सब गतिविधियों और उनके हर रूप को समझ-बूझ गया हो। अतः ज्ञान कभी भी पूर्ण तथा अंतिम नहीं होता है। अर्जित ज्ञान हमेशा ही 'पूर्णता तथा अंतिमता' के सन्निकट होता है, लगभग होता है।"[७]

इस प्रकार हम देखते है कि मनुष्य जितना ही अधिक ज्ञान प्राप्त करता जाता है, उतना ही अधिक वह स्वतंत्र होता जाता है। इसी को यूं भी कह सकते हैं कि ज्ञान वह अस्त्र है जिससे, मानव-स्तर पर, स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी जाती है। और इस ज्ञान की प्राप्ति में वैज्ञानिक दृष्टि और विधि सर्वाधिक सहायक होती हैं। लेकिन कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि ज्ञान, विशेषतः वैज्ञानिक ज्ञान, तो आज हमेशा से अधिक है, किंतु मनुष्य स्वतंत्र क्यों नही है ? प्रश्न गलत नहीं है। इसके सही उत्तर के लिए हमें इतिहास में थोड़ा पीछे जाना होगा। अभी कुछ ही समय पहले तक—और अधिकतर लोगों को आज भी—मनुष्य को स्वयं अपने बारे में और अपने तथा प्रकृति के परस्पर-सम्बध के बारे में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं थी और ऐसी हालत मे इस प्रकृति अथवा विश्व में अपनी स्थिति के बारे में उसने तरह-तरह की धारणाएं बना लीं, जिनका महत्व गणित की कामचलाऊ परिकल्पनाओं या प्राक्कल्पनाओं (हाईपॉथीसिस) का-सा था। लेकिन बाद में यह मालूम हो जाने पर भी कि वो गलत थीं, अधिकतर लोग उन्हें माने चले जाते हैं।

७. वही; १५३—५४

आज भी, विस्तार और गहराई में पहले की अपेक्षा काफी वृद्धि हो जाने पर भी ज्ञान अधिकतर लोगों की पहुँच के बाहर की वस्तु है और इसीलिए वे लोग स्वतंत्रता से बहुत दूर हैं। लेकिन आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य को स्वयं उसके और प्रकृति में उसकी स्थिति के बारे में जितना रहस्योद्घाटन कर दिया है और दुनिया में आदमी की हालत पहले की अपेक्षा जितनी बदल गयी है—वह काफी हद तक यह सिद्ध कर देती है कि आज का मनुष्य पहले के मुकाबले में अधिक ज्ञानी और स्वतंत्र भी है।

सत्य की खोज

विवेक का ही एक पक्ष होने के नाते 'स्वतंत्रता' का आवेग या अन्त-प्रेरण आदमी को मजबूर कर देता है कि वह ज्ञान की खोज करे—स्वयं अपने-अपने वातावरण तथा सम्पूर्ण प्रकृति के बारे में। और ज्ञान की खोज की इस प्रक्रिया के दौरान उसे मिल जाता है 'सत्य'। यह सत्य कोई रहस्यात्मक, पार-भौतिक, अमूर्त या अबोध्य मूल्य नहीं होता है, बल्कि यह तो मनुष्य के ज्ञान की अन्तर्वस्तु होती है, एक वस्तुनिष्ठ वास्तविक तथ्य होता है। मानववादी मूल्य-व्यवस्था अथवा मूल्य-मीमांसा का तीसरा चरण यही 'सत्य' है।

सत्य की खोज—और प्राप्ति भी—मानव की स्वतंत्रता की व्यापक तथा मौलिक खोज का एक स्वाभाविक अंग अथवा परिणाम है क्योंकि जिस सीमा तक सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है, उसी सीमा तक हम स्वतंत्र होते जाते हैं। इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि प्रकृति की शक्तियों के आतंक तथा दमन से बचने के लिए, अर्थात् स्वतन्त्रता के लिए, मनुष्य को प्रकृति पर नियंत्रण और विजय पाने की जरूरत होती है, अर्थात् वह इसे जानने-समझने अथवा ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करता है और इस प्रक्रिया में विज्ञान का विकास करता है जिसका अर्थ होता है सत्य, वास्तविकता अथवा यथार्थ की तलाश करता है और जब जितना सत्य उसे मिल जाता है, उतनी ही स्वतंत्रता उसे मिल जाती है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, वैज्ञानिक दृष्टि से, ज्ञान की ही तरह,

सत्य का वही सिद्धान्त सही और सर्वमान्य होगा जो वस्तुनिष्ठ तथा सर्वव्यापी (आँबजेक्टिव एवं यूनीवर्सलिस्ट) हो। इस सम्बंध में भी यह याद रखना चाहिए कि "सभी वस्तुएं, सभी विषय, सभी प्रकार के सम्बंध और अनुभव कभी भी मानव-ज्ञान की परिधि में नहीं समा सकते हैं। इसके साथ साथ हमें यह भी न भूलना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति, सामान्य, व्यापक मानव-अनुभव के समन्वित तथा समग्र रूप का एक ऐसा अंश या बिन्दु होता है जिसका अपना एक अलग स्थान होता है। अगर हम इन दो चीज़ों को अच्छी तरह ध्यान में रखेंगे तो यह समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होगी कि सर्वव्यापी एव वस्तुनिष्ठ होने पर भी सत्य कभी भी पूर्ण और अंतिम नहीं, बल्कि हमेशा इनके सन्निकट ही होता है।"[८]

इसके अतिरिक्त हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अध्ययन-अनुसन्धान की "वैज्ञानिक विधि के अन्तर्गत नये से नये, भिन्न से भिन्न, छोटे और बड़े दोनों तरह के अनुभवों को एकत्र करने, उनका तुलनात्मक विश्लेषण, करने और फिर छटनी करके उनका वर्गीकरण करने के तरीक़े तथा नियम उपलब्ध हैं जिनका उपयोग करके किसी भी सिद्धान्त की वस्तुनिष्ठता तथा सर्वव्यापकता के अधिक से अधिक सन्निकट बनाया जा सकता है"[९] और कल का अत्यंत सीमित सत्य आज का व्यापक सत्य बन सकता है।

सत्य की पहचान

न्याय अथवा तर्क शास्त्र (लाँजिक) में सत्य की पहचान के दो प्रमाण या कसौटियां बतलायी गयी हैं। (एक) ज्ञान के एक तत्व के रूप में, इसमें कुछ न कुछ आत्मनिष्ठता (सब्जेक्टिविटी) और अपूर्णता तो जरूर होगी; लेकिन फिर भी वस्तुनिष्ठ, यथार्थ, वास्तविक दशा, या स्थिति के जितना अधिक अनुरूप होगा, उतना ही वह सत्य वास्तविकता के सन्निकट होगा। इसे सत्य का 'अनुरूपता सिद्धान्त' (काँरेसपाँन्डेन्स थ्योरी) कहते हैं। और दूसरी

८. वही; १५७

९. वही; १५८

दूसरा मान या कसौटी है 'आंतरिक संगति सिद्धान्त' (कोहिरेन्स थ्योरी) की, जिसके अनुसार ज्ञान के वस्तुनिष्ठ संदर्भ के रूप में सत्य वास्तविकता ही होता है— इसे हम यूं समझ सकते हैं कि वस्तु, विषय, घटना या स्थिति के तमाम पूरक तत्वों में परस्पर-संगति होना ही उसके सत्य होने का प्रमाण है। और वैज्ञानिक विधि—प्रेक्षण, विश्लेषण, प्रयोग और सत्यापन—का इस्तेमाल करके ज्ञान की हर अन्तर्वस्तु की इन दोनों कसौटियों पर जांच करके कुछ छिपे रह गये नये तथ्यों का पता लगा कर पूर्ण वास्तविकता के और अधिक निकट पहुंच सकते हैं।

सत्य की इस विकासात्मक वस्तुनिष्ठ धारणा का इतिहास साक्षी है। अपने और पराये सभी के अनुभवों तथा प्रयोगों के तुलनात्मक अध्ययनों से एक से एक नये सत्य की खोज ही नहीं होती रही है, बल्कि न जाने कितने पहले के प्रचलित और मान्य असत्यों को छोड़कर उनकी जगह नये वास्तविक सही सत्यों को अपनाया गया और फिर इन्हीं का सामान्यीकरण करके व्यापक नियमों, सिद्धान्तों और शास्त्रों की रचना की गयी। सर्वव्यापी वस्तुनिष्ठ ज्ञान के आधार पर सत्य की खोज की वैज्ञानिक विधि का दुनिया भर के सत्य-शोधकों के बीच की धार्मिक, राष्ट्रीय, जातीय और वर्गीय भिन्नताओं को समाप्त करने में बड़ा योगदान रहा है।

इस प्रकार हमने देखा कि जिस जैविक प्रवृत्यात्मक विवेक ने मानव को अन्य जीवधारी पशुओं से अलग, एक विशिष्ट स्थान प्रदान कराया था उसी विवेक ने 'स्वतंत्रता के अन्तःप्रेरण' का रूप लेकर उसे प्रकृति तथा पशुओं के भयंकर खतरे और आतंक से मुक्त कराया और इस स्वतंत्रता-संघर्ष अथवा जीवन-संघर्ष के लिए शस्त्र के तौर पर 'ज्ञान' का सहारा लेकर उसने अपने इर्द-गिर्द के पूरे वातावरण को अधिक से अधिक समझने-बूझने की कोशिश की और इसी कोशिश के फलस्वरूप उसे 'सत्य' का ज्ञान होता गया जो शनैः शनैः सर्वव्यापी वस्तुनिष्ठ वास्तविकता के अधिक से अधिक निकट होता गया।

ऐसी है वैज्ञानिक मानववादी की त्रयात्मक मूल्य-मीमान्सा। इसके तीनों मूल्यों स्वतंत्रता, ज्ञान और सत्य—में से कोई भी अपने में पूर्णतः स्वतंत्र,

पूर्णतः अलग नहीं होता। ये तीनों आपस में एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं—तात्विक तथा तार्किक, दोनों दृष्टियों से। इसीलिए, अनैतिक साधनों से स्वतंत्रता नहीं प्राप्त की जा सकती है और न कोई ज्ञान-सम्पन्न एवं बौद्धिक रूप से स्वतंत्र व्यक्ति झूठा हो सकता है।"[१०]

अपनी इसी मूल्य-मीमान्सा के कारण वैज्ञानिक मानववादी समाज-दर्शन अन्य तमाम समाज-दर्शनों से भिन्न है। अन्य दर्शनों में सत्य अर्थात् वास्तविकता के ज्ञान के अभाव में कल्पना के आधार पर मनुष्य को उसकी समझ से परे की परिकल्पित शक्तियों की मातहती में कर दिया गया था। मानववाद पूरे प्राकृतिक जैविक विकास के परिप्रेक्ष्य में मानव की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि, आभास, या भान होने के समान जैविक गुण से भिन्न, ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता मनुष्य को उसके पशु-वंश से भिन्न कर देती है। यह ज्ञान ही तो उसे उस शक्ति एवं सामर्थ्य से सम्पन्न कर देता है जिससे अधिकाधिक स्वतंत्रता और सत्य की खोज के लिए निरंतर संघर्ष करता है।

---

१०. एम० एन० राय . रैडिकल ह्यूमनिज्म; १८

Morality is secular and rational

४

विकासवादी नीतिधर्म

मानव स्वभाव और मूल्य-मीमान्सा के विषय में हम जो कुछ कह आये हैं, अगर उसी से मिलाकर नीतिशास्त्र या नीतिधर्म या नैतिकता के बारे मे विचार करे तो मानववादी नीतिशास्त्र धर्मनिरपेक्ष (भारत मे आजकल के प्रचलित नहीं, बल्कि वास्तविक अर्थों में) और विवेकसंगत होगा और, जैसा कि एम० एन० राय ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, इसे विकासवादी नीतिशास्त्र कहा जाना चाहिए। और इस नाते व्यापक नीतिशास्त्र के इतिहास में इसका सम्बंध उस परम्परा तथा विचारधारा से है जिसके साथ चार्ल्स डार्विन, हर्बर्ट स्पेन्सर, एल० टी० हॉबहाउस, सी० एच० वैडिंगटन और जूलियन हक्सले आदि के नाम जुड़े रहे हैं, यद्यपि सब से अधिक निकटता अंतिम दो के विचारों से है।

इस सम्बंध में आम तौर पर दार्शनिकों एवं सामाजिक विचारकों की समझ मे यह बात नहीं आती है कि नैतिकता भी धर्मनिरपेक्ष और विवेकपरक हो सकती है। पुराने जमाने की बात छोड़िए, आजकल भी, विशेषतः पिछले (द्वितीय) विश्व युद्ध के बाद से, भारत और पश्चिम-एशियाई मुस्लिम देशों में ही नहीं, यूरोप और अमेरिका ऐसे आधुनिक एवं विकसित कहे जाने वाले महाद्वीपों के देशों तक में नैतिकता के लिए धर्म का सहारा खोजा जा रहा है। आज उन्हें समाज के हर क्षेत्र मे नैतिकता का जबर्दस्त ह्रास दिखलायी दे रहा है, जो कि सही बात है। लेकिन इस भयंकर स्थिति से दुनिया को उबारने के लिए इहलोक और मानव से परे किसी दैवी शक्ति, ईश्वर, धर्म या निरे ईश्वरहीन धर्म आदि का सहारा जो ढूंढा जा रहा है, उस की तह में यह पूर्वाग्रह (या दुराग्रह), काम कर रहा है कि मनुष्य स्वयं अपने से नैतिक

आचरण नहीं कर सकता है और ऐसा करने के योग्य बनाने के लिए किसी लोकोत्तर अनुभवातीत स्रोत की जरूरत है। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि सैकड़ों ही नहीं हजारों वर्षों से मनुष्य इसी लोकोत्तर अनुभवातीत स्रोत वाली नैतिकता पर ही विश्वास करता आया है और फिर भी आज उसकी यह हालत है।

एक जमाना था कि नैतिकता की समस्या एक वैयक्तिक, हर मनुष्य की अपनी निजी समस्या थी और इसलिए व्यक्ति व्यक्ति को नैतिक बनना या बनाना चाहिए था। लेकिन तब यह भूल जाते थे कि यह 'व्यक्ति व्यक्ति' वाला व्यक्ति बिल्कुल अकेला नहीं है, इसका एक वातावरण है, जिसमें इसी के ऐसे न जाने कितने और भी व्यक्ति हैं; इन सबका समाजीकरण हो चुका है और इसका उसके विकास में बड़ा योगदान रहा है। और एक-एक व्यक्ति और किसी के सहयोग के बिना स्वय अपने मोक्ष या निजात की कोशिश में लग गया। वह सफल हुआ या नहीं, लेकिन समाज का कोई भला तो नहीं ही हुआ।

लेकिन अब व्यक्तिगत नैतिकता की बात बहुत कम सुनायी देती है। अब तो हमारी सबसे बड़ी समस्या सामाजिक नैतिकता की है। इसका मुख्य कारण यह है कि अब आम तौर पर लोगों के सोचने का तरीका यह है कि जैसा अन्य सब करते हैं वैसा ही हर एक को करना चाहिए—चाहे ये 'अन्य सब' दिखलायी कहीं, और कभी, न दें। फलतः सामाजिक क्षेत्र में—चाहे वह राजनीतिक हो, चाहे आर्थिक-व्यावसायिक हो, चाहे पारिवारिक हो और चाहे सांस्कृतिक धार्मिक हो—नैतिकता की बात उठाना बिल्कुल ही अप्रासंगिक या मूर्खता का द्योतक हो गया है। अनेक जगहों पर 'सब' अर्थात् समूह या समाज को सुधारा (?) गया और सोचा गया कि अब 'व्यक्ति' भी ठीक हो जायेगा। लेकिन आरम्भिक उत्साह के बाद फिर यही पाया गया कि सब हिन्दू तो हो गये, सब मुसलमान तो हो गये, ईसाई तो हो गये और सब कम्यूनिस्ट या सोशलिस्ट तो हो गये, लेकिन नैतिक कोई नहीं बना और सभी जगहों से लोगों के घोर पतन का रोना रोया जाने लगा।

अतः नीतिशास्त्र अर्थात् आदर्श-व्यावहारिक मूल्यों (नार्मेटिव वैल्यू)

के सम्बंध में जिन उपर्युक्त दो प्रमुख पारम्परिक दृष्टिकोणों को अपनाया गया, ऐतिहासिक अनुभव ने दोनों को ही गलत या कम-से-कम अपर्याप्त सिद्ध किया है—एक ओर तो व्यक्ति को इतना महत्व दिया गया जैसे उसके अलावा कोई और कुछ है ही नहीं, और दूसरी ओर, सब, समूह या समाज को ही सब कुछ मान लिया गया जिसके फलस्वरूप उसे बनाने वाले पूरक मूल घटको को बिल्कुल ही उपेक्षा कर दी गयी। किसी ने भी दोनों के बीच के सम्बन्धो को समन्वित करके एक संतुलित दृष्टिकोण नहीं अपनाया और समस्या ज्यो की त्यों बनी रही।

दृष्टिकोण के इस मौलिक दोष के अतिरिक्त पराम्परागत दार्शनिक-चिंतन के क्षेत्र में जिन-जिन सैद्धान्तिक विचारधाराओं में इस समस्या पर, अर्थात् शिव-अशिव, अच्छे-बुरे या सही-गलत आचरण की समस्या पर विचार किया गया है, उनमें से लगभग सभी ने—चाहे वह धार्मिक हो, बुद्धिवादी हो, आध्यात्मिक हो, प्रत्ययवादी हो या अन्तर्ज्ञानी और अन्तर्दृष्टि वाली हो—नैतिकता का स्रोत मनुष्य और मनुष्य की जननी भौतिक प्रकृति से परे निश्चित किया है और इसीलिए उन सभी को विफलता का ही मुँह देखना पड़ा है। अतः अगर नैतिकता की समस्या का वास्तविक समाधान पाना है और मनुष्य को नैतिक बनाकर इस योग्य बनाना है कि वह अच्छा और सही आचरण स्वयं कर सके, तो तमाम पुरानी परम्परागत नैतिक विचारधाराए छोड़ कर ऐसी सैद्धान्तिक विचारधारा की तलाश करनी चाहिए जिसके अनुसार नैतिकता की अनुशास्ति (सैन्कशन) का ठौर स्वयं मनुष्य में हो और जो अनुशास्ति विवेक की कसौटी पर खरी उतरे और मानववादी अर्थात विकासवादी नीतिशास्त्र की सैद्धान्तिक विचार धारा में इन दोनों जरूरतों को पूरा करने की कोशिश की गयी है।

वैज्ञानिक मानववाद के विकासवादी नीतिशास्त्र का सबसे सूक्ष्म सूत्र है "चूंकि मनुष्य विवेकशील है, इसलिए वह नैतिक हो सकता है और इसीलिए वह ऐसा होता भी है।" और चूंकि विवेकशील होना उसका नैसर्गिक स्वभाव होता है इसलिए मूल या बीज-रूप में हर मनुष्य में और केवल मनुष्य में ही

नैतिक होने की क्षमता है और जिस मनुष्य में यह विवेक या विवेकशीलता जितनी अधिक विकसित होती है, वह मनुष्य उतना ही अधिक नैतिक आचरण करने के योग्य होता है।

अब आइए, मानववादी नीतिशास्त्र के इसी बीज-रूप पर कुछ विस्तार मे विचार करें। हमने शुरू में कहा था कि नैतिकता की वही सैद्धान्तिक विचारधारा सही और सफल हो सकती है जिसके अनुसार नैतिकता की अनुशास्ति (सैन्कशन) का ठौर स्वयं मनुष्य में हो। आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान और विशेषत: जैविक विकास से सम्बन्धित खोजों ने मनुष्य के बारे में काफ़ी कुछ बतला दिया है। अब वह हमारे लिए कोई रहस्य नहीं रह गया है। "मनुष्य, जीवविज्ञान और शरीरक्रिया विज्ञान से सम्बन्धित जितनी जानकारी प्राप्त हो चुकी है उसके आधार पर हमे यह मालूम हो गया है कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है और इसलिए यदि नैतिक भावना को उसकी जन्मजात या अन्तर्जात विवेकशीलता से सम्बद्ध किया जा सके तो नैतिक मूल्यों को, अपनी निरी इच्छा या काल्पनिक आदर्श या मानव एवं प्रकृति से परे किसी दैवी या ईश्वरीय आदेश पर नहीं बल्कि ठोस वास्तविक तथ्यों पर आधारित किया जा सकता है। और इस प्रकार हमे नैतिकता परखने के लिए कुछ वस्तुनिष्ठ मानक या कसौटियाँ प्राप्त हो सकती हैं। फलत: जब 'अच्छे', 'श्रेय' या 'शिव' (गुडनेस) की धारणा को विवेकपूर्वक या बुद्धिपूर्वक समझा जा सके, तभी और केवल तभी समाज में इस 'अच्छे' का कोई सामान्य अथवा सबके लिए समान मानदंड या आदर्श (नार्म) हो सकता है।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि मानव स्वभाव का सार उसकी विवेकशीलता होने से हमारी समस्या काफ़ी हद तक हल हो जाती है और साथ-साथ मे जिस 'सामाजिक नैतिकता' के लिए आजकल सर्वाधिक चिंता व्यक्त की जा रही है, उसका समाधान भी इस तरीके से हो जाता है। "जैविक विकास क्रम मे शारीरिक रूप से चूँकि सभी मनुष्यों की बनावट समान है और अगर इसके

१ एम० एन० राय : साप्ताहिक 'रैडिकल ह्यूमनिस्ट, मई २९, १९४९.

साथ-साथ ज्ञान अर्थात् बौद्धिक विकास के मामले में भी कम-से-कम किसी एक हद तक सब में (या जितनों में) समानता होगी, वे तो समान परिस्थितियों में समान रूप से प्रतिक्रिया करेंगे ही। अतः चूंकि सभी मनुष्य एकसा बने हुए हैं, इसलिए अगर इनमें अच्छे-बुरे या सही-गलत में भेद और निर्णय करने की योग्यता पैदा की जा सके—और मूलतः विवेक एवं स्वतंत्रता की ललक होने के कारण ऐसा किया जा सकता है—तो सभी लोगों से समान मौकों पर समान या लगभग समान व्यवहार करने की और इसी के फलस्वरूप सामाजिक नैतिकता के पैदा होने या उभरने की आशा की जा सकती है।"[२]

दो

शायद अभी स्थिति पूरी तौर से साफ़ नहीं हो सकी है, इसलिए इसे यूं भी कहा जा सकता है :

चूंकि एम० एन० राय का विकासवादी नीतिधर्म वास्तव में वैज्ञानिक मानववादी समाज दर्शन का ही एक अंग है, इसलिए वह भी विशुद्ध रूप से भौतिकवादी तथा प्रकृतिवादी है। इससे प्रकृति से परे के किसी भाव का दूर का भी सम्बंध नहीं है। अर्थात्, इसके अनुसार नैतिक आचरण का स्रोत मानव स्वभाव में ही है, मानव से परे किसी सत्ता में नहीं। दूसरे, अच्छे-बुरे या शुभ-अशुभ या शिव-अशिव की कसौटी मानव का अपना ही निर्णय है, न कि कोई मानवेतर सत्ता। धार्मिक नीतिधर्म से यह मूलतः भिन्न ही नहीं, वरन् उसकी विरोधी है।

नैतिकता का स्रोत : मानव शरीर का यह गुण है, अर्थात् उसकी यह जन्मजात प्रकृति है कि वह जीवित रहे, बढ़े, विकसित हो। मानववाद मानव की इसी प्रवृत्ति को नैतिक आचरण का मूल स्रोत मानता है। यह प्रवृत्ति ही मानव के अन्तःकरण या अन्तर्भाव, उसके सद्विवेक (कानशन्स) का मूल है। मनुष्य केवल जीवित ही नहीं रहना चाहता, उसे इतने भर से ही सन्तोष नहीं होता। वह यह भी चाहता है कि उसका विकास हो, वह अपने को व्यक्त करे,

२. वही !

वह परिस्थितियों पर नियन्त्रण करना, प्रकृति की सीमाओं को पार कर जाना, उन्हें अपनी इच्छानुकूल बनाना भी चाहता है। जीवन के पल-पल को वह वास्तविक समझते हुए भी उसे अन्तिम नहीं मानता, उससे आगे की स्थितियों का वह पूर्वाभास लेता है, अतीत और भविष्य की तुलना करता है। उसे अपनी इच्छाओं को सीमित रखना रुचिकर नहीं होता, वह हर घटना और विषय पर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ जाना चाहता है। बढ़ने और विकसित होने की अपनी जन्मजात प्रवृत्ति को व्यक्त करने के लिए वह हर सम्भावना को सम्भव की परिधि से निकालकर वास्तविकता में परिणत करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अर्थात् वह अधिक से अधिक स्वतंत्र होना चाहता है। अतः, विवेक, स्वतंत्रता, विकास, रचना और अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति ही उसकी प्रतिक्रियाओं, दृष्टिकोणों, प्रत्युत्तरों तथा सम्पूर्ण आचरण—जिसमें नैतिक भी शामिल हैं—की स्रोत है, मूल है, उद्गम है।

नैतिकता का उद्देश्य : नैतिकता अर्थात् नीतिधर्म का मुख्य उद्देश्य होता है मूल्यांकन करना। अर्थात् मूल्य-निर्णय की कसौटी निश्चित करना—क्या शुभ या शिव है, इसकी परिभाषा करना और अशुभ या अशिव से उसका विभेद करना। मानववादी नैतिकता इस कसौटी की व्युत्पत्ति मानव की उपरोक्त मूल प्रवृत्ति से करती है। जिस या जिस प्रकार के आचरण से उस प्रवृत्ति को बल मिले, मानव-विकास को सहायता मिले, वही आचरण शुभ है, और जिससे वह बाधित हो वह अशुभ। 'मूल्य-मीमान्सा' पर विचार करते समय हमने देखा था कि ज्ञान या ज्ञानोपार्जन का स्वतंत्रता प्राप्त करने में सर्वाधिक योगदान होता है, इसलिए ज्ञान अथवा शिक्षा से व्यक्ति का विकास होता है; वह शुभ है; उदारता से मानवीय मन खुलता और बढ़ता है, वह शुभ है। मतान्धता व्यक्ति को सीमित तथा संकुचित बनाती है, वह अशुभ है; भय, निराशा तथा शंका मन को बाधित तथा कुण्ठित करती हैं, ये अशुभ हैं। आनन्दभोग शुभ है, वैराग्य और सन्यास अशुभ।

ठोस समस्याएं : अब नैतिकता की उपर्युक्त व्याख्या के प्रकाश में जीवन की कुछ ठोस और आधारभूत समस्याओं पर विचार करें। मनुष्य की

- ज ऐसी कितनी ही आवश्यकताएं होती हैं, न जाने ऐसी कितनी ही प्रेरक प्रवृत्तियां होती हैं जिनमें एक की तुष्टि या पूर्ति से कोई दूसरी बाधित होती है या अपूर्ण रह जाती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को जीवन में अनेकानेक द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है। इस विफलता और द्वन्द्व से बचने के लिए नैतिकता उसे क्या और कैसे सलाह देगी ?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए उपर्युक्त नैतिकता की कसौटी से ही सहायता मिलेगी। विकास और प्रगति के लिए मानवीय व्यक्तित्व में दो चीजों का होना अत्यावश्यक है : पूर्णता एवं अनुरूपता, और नवीनता-कौतुकता एवं बुद्धि। किसी भी इच्छा या आवश्यकता का पूर्णतया दमन नहीं किया जा सकता। ऐसा यदि किया ही जाय, तो उससे मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्णता एवं अनुरूपता के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिए आधुनिक मनोविज्ञान की इस महत्त्वपूर्ण खोज को दृष्टि में रख कर मानववाद धार्मिक, स्वयंसिद्ध, मनमानी तथा कसी-बंधी नैतिकता को नहीं मानता।

इसका यह अर्थ नहीं है कि मानववाद निरे सुखवाद या उपयोगितावाद में विश्वास करता है। अन्तःकरण अथवा सद्विवेक (कानशन्स) का यह कार्य नहीं होता कि वह इच्छाओं अथवा प्रेरणाओं को रोके या बाधित करे। उसका कार्य तो यह है कि विभिन्न इच्छाओं तथा प्रेरणाओं के बीच अनुरूपता तथा संगति स्थापित करे, उनकी अलग-अलग उपयोगिता, प्राथमिकता तथा गौणता निश्चित करें, क्योंकि सभी का महत्त्व समान नहीं होता, परिस्थिति तथा सम्पूर्ण व्यक्तित्व की दृष्टि से किसी की तात्कालिकता तथा मूल्य कम और किसी का अधिक रहता ही है।

और यहीं पर विवेक की विशेष भूमिका होती है, जो मानव प्राणी का मूल स्वभाव अर्थात् विशेष गुण होता है। विवेक अन्तःकरण का सबसे प्रमुख अस्त्र है; विवेक ही भिन्न भिन्न इच्छाओं तथा प्रेरणाओं को तौलता है, उनकी पूर्ति की विधियां खोजता है और सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास को सामने रखकर उनमें अनुरूपता तथा संगति निश्चित करता है।

अतः किसी अवसर पर मनुष्य का अन्तःकरण किसी द्वन्द्व को हल करने

में यदि असफल रहता है तो इसका कारण यह रहा होगा कि उसके विवेक को पूर्ण विकसित नहीं होने दिया गया है। इसमें शक नहीं कि मानव व्यक्तित्व के विकास क्रम में विवेक का विकास कभी भी बिल्कुल पूरा नहीं होगा, वह हमेशा ही विकासशील तथा पूरे विकास के सन्निकट (ऐप्रॉक्सिमेट) रहेगा। फिर भी यह तो सच है कि उसके उत्तरोत्तर विकास पर ही व्यक्तित्व का विकास तथा व्यक्ति के नैतिक भाव का विकास निर्भर करता है।

द्वन्द्व दो प्रकार के होते हैं : एक : मनुष्य के अपने भीतर के, अर्थात् अन्तर्द्वन्द्व। दो : व्यक्ति व्यक्ति के, अर्थात् पारस्परिक द्वन्द्व। एक व्यक्ति या एक जन-समूह का विकास दूसरे व्यक्ति या दूसरे जन-समूह के विकास में बाधक भी सिद्ध हो जाता है। एक की परम्पराएं, नियम तथा संस्कृति दूसरे के लिए दमन का अस्त्र सिद्ध हो सकती हैं। ऐसी परिस्थिति मे भी हमें मानववाद की मूल मूल्यांकन-कसौटी से ही सहायता लेनी पड़ेगी।

वैज्ञानिक मानववादी समाज दर्शन के अनुसार प्रत्येक मानव का अन्तिम लक्ष्य वह स्वयं ही है, अपने हर व्यवहार के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी होता है, स्वयं ही अभियुक्त है, स्वयं ही न्यायाधीश, स्वयं ही साधन है, स्वयं ही साध्य। अतः उसका अपना विकास किसी भी समष्टि—जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, राष्ट्र, धर्म, वर्ग आदि—के अधीन नहीं होना चाहिए। यही बात है कि कानून, परम्परा, रीति रिवाज, संविधान आदि के विरुद्ध विद्रोह करने का उसे पूरा अधिकार है। और यह अधिकार नैतिक है—यदि इन्हें वह अपने व्यक्तित्व के विकास में बाधक पाता है।

किंतु जिस प्रकार आन्तरिक द्वन्द्व या अन्तर्द्वन्द्व के समाधान के लिए किसी इच्छा, प्रेरणा अथवा प्रवृत्ति का दमन करना अनुचित ही नहीं, हानिकर भी होता है, उसी प्रकार व्यक्ति व्यक्ति के पारस्परिक, अर्थात् समाजिक द्वन्द्वों के लिए भी विद्रोह ही एक मात्र और स्वस्थ उपाय नहीं है। यहां हमें ऐसे मानवीय व्यवहार तथा मानवीय सम्बंधों की व्यवस्था खोज कर स्थापित करनी होगी जिसमें व्यक्ति विशेष का ही नहीं, बल्कि सब का विकास सम्भव हो और सभी उसकी उपयोगिता स्वीकार करें। यह सामाजिक विवेक उस व्यक्ति-

१ द्वन्द्व (बाह्य) — द्वन्द्वात्मक, युगल
२ अन्तर्द्वन्द्व

गत विवेक का ही विकसित रूप होता है। और जिस प्रकार अन्तर्द्वन्द्वों के समाधान में विवेक का ही सहारा था और जिस प्रकार इस विवेक का विकास तथा उसकी उपयोगिता अपनी पूर्णता के सन्निकट ही थी, उसी प्रकार सामाजिक विवेक और इस पर आधारित मानवीय व्यवहार तथा सम्बंधों की अनुरूपता, उपयुक्तता और उपयोगिता पूर्ण तथा अंतिम न होकर, उसके सन्निकट ही होगी।

अतः दोनों प्रकार के द्वन्द्वों के समाधान के लिए मानववादी नैतिकता के दो मुख्य सिद्धान्त है। एक यह कि हर व्यक्ति के विकास का महत्व समान है किसी को दूसरे के विकास का साधन नहीं बनाया जा सकता। दूसरा यह कि समाज के हर व्यक्ति के विकास के लिए सुविधाजनक तथा सहायक परि-स्थितियां उत्पन्न करने के लिए विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा प्रवृत्तियों में अनुरूपता तथा संगति होना जरूरी है। मानववादी नीतिधर्म के इन दो मूल सिद्धान्तों का आधार मानव-सम्बधी ज्ञान के विभिन्न क्षेत्र हैं जिनमें मनोविज्ञान, शरीरक्रिया-विज्ञान, मानवविज्ञान अथवा मानवशास्त्र और समाजशास्त्र प्रमुख हैं।

तीन

मूल्य-मीमान्सा से सम्बधित विषय हमने सत्य की खोज पर समाप्त किया था। इस अध्याय में हमने अभी तक 'शिव' पर विचार किया है। परम्परागत मूल्य मीमान्सा 'सत्य, शिव और सुन्दर' (ट्रुथ, गुडनेस ऐण्ड ब्यूटी) की त्रयी पर आधारित रही है और भारत में इन तीनों को मिला कर धर्म को परिभाषित किया गया और कुछ लोगों ने उदारतापूर्वक नैतिक आचरण को ही धर्म भी कह दिया। लेकिन, धर्म के हम चाहे जो अर्थ लगायं, इतिहास तो यही बतलाता है कि धर्मानुसार अर्थात् नैतिक व्यवहार करने के उपदेश तो हजारों—लाखों वर्ष से दिये जाते हैं और आज भी उन्हें चौबीसो घन्टे दोहराया जाता है, लेकिन फिर भी आज तक समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है कि मनुष्य

और कम। और जहाँ तक तीसरी शर्त का सम्बंध है, वह तो, अगर वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के चरित्र की असलियत, विभिन्न मौकों पर उनकी अपेक्षित सम्भव अर्थात् स्थायी प्रतिक्रियाओं और उनके आवेगों की अभिव्यक्ति के रूप आदि को नहीं पहचान सकता है, तो इस शर्त का पूरी होना असम्भव है, क्योंकि ऐसी हालत में परस्पर-सम्बधों के, विभिन्न प्रकार के चरित्रों के व्यवहारों-व्यापारों के नियमों तथा मूल्यों का सामना करने या उनसे अनुकूलता अथवा अनुरूपता पैदा करने की योग्यता ही उसमें नहीं होगी।

अतः समाज में स्थायी रूप से सुसंगत एवं सद्भावपूर्ण समजन या समायोजन मानव ज्ञान एवं उससे प्राप्त सत्य की सर्वव्यापकता और वस्तु-निष्ठता के आधार पर ही सम्भव हो सकता है और इसीलिए ऐसा ज्ञान तथा सत्य ही शुभ, शिव और श्रेय हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, व्यक्तिगत चरित्र के सन्दर्भ में भी सर्वव्यापकता-वस्तुनिष्ठता पर आधारित सत्य की खोज का अत्यन्त व्यावहारिक महत्व है। जिस किसी व्यक्ति में इस प्रकार के सत्य की खोज की रुचि पैदा और बलवती हो जाती है, वह धीरे-धीरे इस योग्य हो जाता है कि अपनी आवश्यकताओं, प्रयत्नों तथा दैनिक व्यापारों-व्यवहारों में स्थायी-अस्थायी, टिकाऊ-आकस्मिक, सर्वव्यापकता-व्यक्तिगत पूर्वाग्रह अथवा पक्षपात आदि के बीच बड़ी आसानी से विभेद कर सके। विशेषतया जो व्यक्ति भौतिकवादी या लोकायती होता है, वह तो सत्य को ही नैतिकता का आधार मानता है। सत्य से मनुष्य के जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों के बीच काफी व्यापक समन्वय स्थापित हो सकता है क्योंकि वह भ्रमों और भ्रांतियों से मुक्त रहता है। उसके दिमाग (मन) में एक सर्वव्यापी, स्थायी एवं वस्तुनिष्ठ यथार्थ का संदर्भ रहता है जिसके आधार पर विचारों, विश्वासों तथा आदतों की गलती को पहचान सकता है और तुलनात्मक अध्ययन कर के और उस संदर्भ की सहायता से उन्हें सुधार सकता है।

अतः यदि अन्यों से सहयोग करते हुए व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एवं विकास करने के लिए लोगों के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के बीच उचित समा-

योजन ही शुभ होता है, तो 'सत्य' को 'शिव' से अलग किया ही नहीं जा सकता है, अर्थात्, शुभ, शिव या श्रेय के लिए सर्वव्यापी वस्तुनिष्ठ सत्य की खोज और उस पर अमल करना आवश्यक है।

अंत में, सत्य या सत्य की खोज से मनुष्य के चिन्तन तथा आचरण मे वैज्ञानिकता पैदा होती है, अर्थात् उसमें धैर्यपूर्वक जांच-पड़ताल करने, व्यवस्थित ढग से सोच-विचार करने, अपने से भिन्न तथा विरोधी विचार को खुले दिल से बर्दाश्त करने और सत्य के अधिकाधिक निकट पहुंचने की अर्थात् सत्यप्रियता की आदत पैदा होती है--क्योंकि विज्ञानी के कार्य में 'सत्य' से जरा भी हटना असम्भव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्य मानव के विवेक की भी अभिव्यक्ति करता है और नैतिक आचरण की भी। अतः सत्य एक मात्र ऐसा गुण है जिसमें विवेक तथा शिव दोनों मिल जाते हैं।[३]

चार

नैतिकता अथवा नीतिधर्म के विषय में अब तक जो कुछ कहा गया उससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि युग-युगों से असफल धार्मिक, रहस्यवादी, आदेशात्मक, उपदेशात्मक या किसी मानवेतर लोकोत्तर दैवी शक्ति के भय पर आधारित नैतिकता के बदले इसी लोक के प्राकृतिक नियमों के अनुसार उत्पन्न एवं विकसित मनुष्य की नैसर्गिक विवेकशीलता और स्वतंत्रता की ललक पर और वैज्ञानिक विधि एवं दृष्टिकोण पर आधारित स्वस्थ-सफल मानववादी नीतिधर्म ही आवश्यक तथा सम्भव है। इस सम्भावना के साथ ही मनुष्य की अपनी सत्ता, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास की सम्भावनाए भी उभर आती हैं। अर्थात् उसे आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। फलतः इस मूल्य-मीमान्सा तथा आत्मज्ञान के आधार पर मनुष्य में यह विश्वास पैदा हो सकता या किया जा सकता है कि वह अपना स्वयं भाग्यविधाता है, प्राकृतिक एव सामाजिक परिस्थितियों का दास नहीं, बल्कि स्वामी है।

---

३. एलेन राय एव शिव नारायण राय : इन मैन्स ओन इमेज।

यद्यपि मनुष्य नैतिक या अनैतिक व्यक्तिगत रूप से ही होता है, अर्थात् नैतिकता मूलत: वैयक्तिक ही होती है, लेकिन जिस प्रकार व्यक्ति व्यक्ति से मिलकर कोई समूह या समाज बनता है, उसी प्रकार व्यक्ति व्यक्ति के व्यवहार की बुनियाद पर सामाजिक नैतिकता का भवन निर्मित होता है। मानववादी सामाजिक नैतिकता किसी व्यक्ति पर आरोपित या थोपी गयी नैतिकता नहीं, बल्कि स्वैच्छिक ही होती है; नैतिक या शुभ कार्य करने की बाध्यता तो होती है लेकिन यह बाध्यता स्वयं अपने विवेक या सद्विवेक द्वारा थोपी गयी होती है। अतः कोई भी समूह या संस्था––सरकार, संस्कृति, धर्म, राष्ट्र, समाज, सम्प्रदाय या वर्ग नैतिक नैतिक-अनैतिक नहीं हो सकती; नैतिक-अनैतिक होते हैं, उसके अलग-अलग पूरक घटक अर्थात्, एक-एक व्यक्ति।

Only Persons are moral
Institutions and organizations are not moral.

५

इतिहास दर्शन और विचारों की भूमिका[1]

सामान्यत: भारत में और मुख्यत: हिन्दी में इतिहास अध्ययन की परम्परा अभी कुछ ही समय की है। इतिहास के अध्ययन अर्थात् इतिहास-दर्शन या इतिहास-शास्त्र की बात तो दूर रही, यहां शायद इतिहास-लेखन का भी रिवाज नहीं रहा है। यही कारण है कि यहां के जिस अतीत पर लोग इतना गर्व करते हैं वही अतीत आज भी, इतने राष्ट्रीय तथा धार्मिक आन्दोलनों के बावजूद, एक रहस्य से अधिक कुछ नहीं है। जो कुछ भी हो, यदि हमें, सिर्फ अपने देश के ही नहीं, कहीं के भी इतिहास अर्थात् सामाजिक विकास तथा परिवर्तनों के इतिहास को अतीत के ढेर से खोज निकलना है, या भावी इतिहास अथवा सामाजिक विकास की सम्भावनाओं का पूर्वानुमान लगाना है, तो उसके लिए हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि तमाम पूर्वाग्रहों और पक्ष-विपक्ष की दुर्बल भावनाओं को अलग करके इतिहास-अध्ययन के कुछ आधारभूत सिद्धांत निश्चित कर लें। ये सिद्धांत कुछ ऐसे व्यापक होने चाहिए, जैसे प्रकृति के नियम, ताकि इनकी सहायता से हम केवल अतीत की जानकारी ही प्राप्त न कर सकें, बल्कि भविष्य के निर्माण के लिए भी आयोजन कर सकें।

---

१. १९४९ में इण्डियन रिनैसां इन्स्टीट्यूट के ग्रीष्मकालीन अध्ययन शिविर के लिए एम० एन० राय ने एक विस्तृत पाठ्यक्रम तैयार किया था। यह लेख उसी पाठ्यक्रम और 'रीज़न, रोमैन्टिसिज्म ऐण्ड रिवोल्यूशन' की भूमिका पर आधारित है।

सिद्धांतों की इसी व्यापकता की आवश्यकता को महसूस करके विदेशों में विगत लगभग दो सौ वर्षों में इतिहास के अध्ययन की विधि पर अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इतिहास-दर्शन (हिस्टॉरिओलॉजी या फिलासफी आफ हिस्टरी) रचने के प्रयत्न किये हैं। लेकिन अक्सर हुआ यही है कि अधिकाधिक व्यापकता का दावा करते हुए भी वे विद्वान जाने-अनजाने में पूर्वाग्रहों से पूरी तौर पर मुक्त नहीं हो पाये। इस असफलता या दुर्बलता का मुख्य कारण उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि रही है। इतिहास-दर्शन ही क्या, कोई भी दर्शन अपने में पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि हर दर्शन सम्पूर्ण विश्व तथा जीवन-दर्शन का ही एक अंग होता है। अगर पूर्ण-दर्शन ही एक-पक्षीय है और मानवजाति के अब तक के सम्पूर्ण ज्ञान-भंडार को सामने नहीं रखता है, तो न तो वह स्वयं ही पूर्णतः व्यापक होगा और न उसका कोई अंग ही। इसी जरूरत को महसूस करके एम० एन० राय ने अपने भौतिक यथार्थवाद और वैज्ञानिक मानववाद की रचना की रचना की। हम यह देख चुके हैं कि इस जीवन-दर्शन के मुख्य आधार हैं मानव और प्रकृति-तथा मुख्य केन्द्र है व्यक्ति। किंतु चूंकि मानव इस व्यापक प्रकृति का ही एक अंग है, इसलिए प्रकृति के तमाम मूलभूत नियम उस पर भी लागू होते हैं। प्रकृति के साथ-साथ उसके प्रत्येक नवोदित या नवविकसित रूप के भी अपने अलग नियम होते हैं। अतः उस नये रूप पर दो प्रकार के नियम लागू होते हैं। एक तो, उसके अपने, और दूसरे व्यापक प्रकृति के। साथ में सामान्य विकास के जिन-जिन रूपों या अवस्थाओं को पार करता हुआ वह जाता है, उनके नियमों का भी वह लाभ उठाता है। जब हम समाज के इतिहास की, मानव के इतिहास की बात करते है, तो उपर्युक्त दार्शनिक आधार को ध्यान में रखना चाहिए। अतः इतिहास-दर्शन में प्रकृति, मनुष्य के निकटतम पूर्वज पशु-मनुष्य और व्यक्ति-मनुष्य के बाद सामाजिक मनुष्य, अर्थात् मनुष्य समाज के नियम लागू होते हैं।

इतिहास का मूल रूप

इतिहास को अंग्रेजी में 'हिस्टरी' कहते हैं। 'हिस्टरी' शब्द का मूल रूप यूनानी शब्द 'हिस्तोरिया' है, जिसका अर्थ हमारी संस्कृत के 'विद्' शब्द

शब्द का पर्याय है। 'हिस्तोरिया' तथा 'विद्' दोनों का अर्थ होता है जानना, ज्ञान प्राप्त करना। किसी भी देश या संस्कृति के प्राचीन काल में हमें इतिहास जैसी कोई चीज नहीं मिलती। इसका कारण यही है कि तब इतिहास-जैसी कोई चीज अलग से लिखी ही नहीं जाती थी। यूरोप की प्राचीन संस्कृति के केन्द्र यूनान में भी इसीलिए इतिहास तथा सामान्य ज्ञान में अर्थात् दर्शन-शास्त्र और विज्ञान में कोई अंतर नहीं था।

इतिहास के अध्ययन अथवा लेखन का कार्य किसी घटना विशेष अथवा सामाजिक घटनाओं के मात्र वर्णन अथवा अंकन से आरम्भ नहीं हुआ; बल्कि आरम्भ हुआ उन घटनाओं की खोज-बीन तथा उनके घटित होने के कारणों तथा परिणामों के अध्ययन से। वैज्ञानिक विकास क्रम के सिद्धांत के अनुसार मनुष्य अपनी मनुष्यता प्राप्त करने से पूर्व पशु-परिवार के सर्वोच्च शिखर पर था। काफी लम्बे काल तक वह पशु और मनुष्य दोनों के बीच की एक ऐसी अवस्था में रहा, जिसे न पशु कहा जा सकता है और न मनुष्य। पशु अपने अस्तित्व की रक्षार्थ बाह्य परिस्थितियों अर्थात् परिवेश में परिवर्तन करने के लिए उतना प्रयत्नशील नहीं रहता, जितना स्वयं अपने शरीर में ही परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन करने के लिए। जिस दिन उसने अपनी विशेषता की परिधि को लांघकर बाह्य परिस्थितियों को भी बदलने की सोची, उसी दिन से वह अपने पुराने पशु-परिवार से हट गया और मानव परिवार का आरम्भ हो गया। लेकिन उसके इस परिवर्तन से बाह्य परिस्थितियों पर उसका नियंत्रण तो नहीं हो गया, फिर भी चूंकि इसी नियंत्रण कार्य को पूरा करने के लिए उसके नये परिवार का जन्म हुआ था, इसलिए लगभग सम्पूर्ण मानव-व्यवहार का यही मुख्य गुण तथा लक्ष्य बन गया। फलतः मानव इतिहास इसी बाह्य जगत अथवा प्रकृति या परिवेश पर नियंत्रण पाने के लिये किए जाने वाले प्रयत्नों अथवा संघर्षों का इतिहास बन गया।

मानव-इतिहास---प्राकृत इतिहास

मनुष्य से पूर्व का पशु प्रकृति का निरा दास था। इसीलिए आरम्भिक अवस्था का मनुष्य भी प्रकृति का दास बना रहा। इसी दासता से मुक्त होना

उसे मनुष्यता के मार्ग पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता था। उसका वाह्य जगत प्राकृतिक परिवेश था। फलतः मानव-इतिहास भी इसी प्रकृति-इतिहास अथवा प्राकृत इतिहास का एक अभिन्न अंग हो गया। मनुष्य को जीवित रहने के लिए प्रकृति की अनेकानेक घटनाओं को जानने, समझने और उनके कारणों, अनुक्रमों तथा परिणामों के विषय में जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता थी और इसी मे उसका अधिकतर चिंतन तथा परिश्रम लगता था। प्राचीन सभ्यताओं के अवशेषों में इसीलिए हमें प्रकृति-वर्णन सबसे अधिक मिलता है, चाहे हम भारतीय वेदों को ले लें, चाहे यूनान के पुराने साहित्य को। इसी अर्थ में हम यूनान के हेरोदोतस और भारत के वेद-रचयिताओं को इतिहासकार कह सकते हैं।

देवताओं और धर्मों का उदय

इस चिंतन तथा खोज-कार्य में ही मनुष्य के न जाने कितने युग बीत गये। लेकिन मात्र चिंतन और इच्छा से मोटे-मोटे कारणों तथा परिणामों की जानकारी भले ही हो जाय, परिस्थितियां एकदम बदल तो नहीं जातीं। खोज करने की आधुनिक वैज्ञानिक विधियों के अभाव में तब का मनुष्य केवल आंशिक लाभ ही उठा सकता था। अधिकांश अज्ञात ही रहा। काफी समय और काफी परिश्रम के बाद भी वह प्रकृति की शक्तियों का दास और शिकार बने रहने के कारण उन शक्तियों को अज्ञात ही नहीं, अज्ञेय भी समझने लगा। साथ-साथ में, उसमें एक खीझ, एक ऊब, एक कुंठा तथा एक निराशा और भय भी घर करने लगा।

भयभीत मनुष्य ने जिस घटना का कारण समझ लिया, उस पर आंशिक नियंत्रण भी प्राप्त कर लिया। लेकिन जिनका कारण और प्रक्रम या प्रक्रिया (प्रोसेस) वह नहीं समझ पाया, उनके कारण अपनी मोटी बुद्धि से कुछ मान लिये, कुछ अन्दाज़ से गढ़ लिये। फलतः, प्रकृति की हर घटना के पीछे एक देवता की रचना हो गयी और सम्पूर्ण प्रकृति से परे मनुष्य से कहीं अधिक बली, एक पारलौकिक शक्ति की आरम्भ में परिकल्पना (हाइपॉथीसिस) के तौर पर कल्पना कर ली गयी। इस प्रकार भौतिक तथा लौकिक अस्तित्व के अति-

रिक्त और प्रकृति से परे एक अज्ञात-अज्ञेय सर्वशक्तिशाली सत्ता अथवा व्यक्तित्व की पूजा होने लगी। यह पूजा किसी श्रद्धालु भक्त की नहीं, बल्कि एक निराश, नि:सहाय तथा पशु-मानव अथवा अर्द्धमानव या अवमानव की थी।

इस प्रकार प्राकृत इतिहास को पार कर, पशु-परिवार में रहकर, जीवन-रक्षा के लिए विकसित मानव प्रकृति की शक्तियों के व्यवहार और प्रक्रम पर चिंतन करके दार्शनिक बना। फिर उस व्यवहार तथा प्रक्रमों के कारणों और परिणामो को समझने तथा उन पर नियंत्रण पाने के लिए प्रयत्न करके विज्ञानी बना और जब इन दोनों उपायों से भी वह पूर्ण सफल नहीं हो सका, तो हार कर भयावस्था में अज्ञेय पारलौकिक शक्तियों की कल्पना तथा पूजा करके धार्मिक बन गया। इस प्रकार जो मानव-इतिहास प्राकृत अवस्था मे आरम्भ हुआ था, वह धर्म और देवी-देवताओं का इतिहास बन गया। फलत: खोज-बीन तथा शोध करने का मौलिक मानवीय गुण, पीछे और अंधविश्वास करने का कृत्रिम गुण आगे बढ़ गया।

इतिहास विज्ञान है

ऐसी हालत में पूरा संसार, उसकी घटनाएं, उसकी प्रत्येक वस्तु का स्रोत प्रकृति से परे की कोई सर्वश्रेष्ठ शक्ति हो गयी और अब उन सबके घटित होने के कारणों की खोज-बीन की जब कोई जरूरत ही नहीं रही, तो इतिहास का अध्ययन तथा लेखन उन घटनाओं का मात्र वर्णन हो गया। अरस्तू से लेकर अभी आधुनिक काल तक इतिहास शुद्ध साहित्य की ही एक शाखा के रूप में रहा है। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को सामने रख कर कहा जाता है कि इतिहास कोई विज्ञान नहीं है, इसका कोई दर्शन नहीं है। प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार लार्ड ऐक्टन ने विज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा है कि "एक ही प्रकार के ढेरों तथ्यों को इस तरह एकत्रित किया जाय, जिससे एक ऐसा सामान्य न्यायसंगत अनुक्रम, एक सिद्धान्त अथवा एक नियम निश्चित किया जा सके, जो हमें इस योग्य कर दे कि वैसी ही परिस्थितियों में उसी

प्रकार की घटनाओं के पुनः घटित होने को हम पहले से ही जान लें; अर्थात् उनके विषय में भविष्यवाणी कर सकें।"[२]

विज्ञान को इस अर्थ में लेने पर तो हम इतिहास को विज्ञान अवश्य नहीं कह सकते। लेकिन यदि हम प्राकृतिक परिवेश, अर्थात् जगत के विषय मे ज्ञान प्राप्त करने को विज्ञान का उद्देश्य मान ले तो हमारा कार्य सरल हो जाता है। प्राप्त ज्ञान के आधार पर भविष्यवाणी करना सम्भव हो अथवा न हो, लेकिन इस परिभाषा के आधार पर इतिहास-लेखन की कला को तो विज्ञान की कोटि में रख ही सकते हैं। इतिहास-लेखन की कला का उद्देश्य होता है घटित अर्थात् भूतकाल की घटनाओं की न्यायसंगत विवेचना एवं व्याख्या करना और जैसा थामस हक्सले ने कहा है, "इस तरह का सब ज्ञान विज्ञान है जिसका आधार प्रमाण और न्यायसंगति हो।"

अब प्रश्न उठता है कि ऐतिहासिक अध्ययन तथा शोध से हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह क्या इस प्रकार का होता है जिसका आधार प्रमाण और न्यायसंगति है। यदि इतिहास को प्रकृति से परे किसी अभौतिक और पारलौकिक सत्ता द्वारा संचालित माना जाय, तो इस प्रश्न का उत्तर स्पष्टतः 'नहीं' में होगा। लेकिन यदि मानव-इतिहास व्यापक प्रकृति-इतिहास का ही एक अंग है, तो उसके विषय में प्राप्त ज्ञान का आधार अवश्य ही प्रमाण और न्यायसंगति है। मनुष्य ईश्वर की एक विशेष कृति है, सृष्टि है, इस सिद्धांत ने मानव-इतिहास और प्रकृति-इतिहास के बीच एक ऐसी खाई पैदा कर दी, जिस पर पुल बनाना असम्भव है। जो लोग इतिहास को विज्ञान मानने से इन्कार करते हैं, उनके—आधुनिक होने पर भी—मस्तिष्क में अचेतनावस्था मे यही धार्मिक सिद्धांत अब भी काम करता है।

आधुनिक जीवविज्ञान ने भूविज्ञान (जियोलॉजी) तथा रसायनशास्त्र की सहायता से जो निष्कर्ष निकलते हैं, उनसे उपर्युक्त खाई पट जाती है। तमाम आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य-जाति के जन्म को मनुष्य से पूर्व के पशु-जगत तथा अन्य प्राणियों के परिवारों की विकास-श्रृंखला की अभी तक की

२. देखिए, लार्ड ऐक्टन : लेक्चर्स ऑन माडर्न हिस्टरी।

ज्ञात अंतिम कड़ी सिद्ध किया है और साथ ही यह भी सिद्ध किया है कि प्राण अथवा जीव का उदय अथवा जन्म अजीव पदार्थ से ही होता है। इस प्रकार मनुष्य और प्रकृति का एक सीधा सम्बध स्थापित हो जाता है और उसकी दैवी चमत्कार के फलस्वरूप हुई सृष्टि का सिद्धांत खत्म हो जाता है।

इन्हीं वैज्ञानिक प्रमाणों तथा न्यायसंगत सम्बधों के ज्ञान पर आधारित इतिहास को विज्ञान की कोटि में हम बड़ी आसानी से रख सकते हैं। हां, इसमे कोई शक नहीं कि इतिहास को हम भौतिकशास्त्र, ज्योतिष (खगोल) शास्त्र या प्रयोगात्मक रसायन-शास्त्र की तरह का विशुद्ध विज्ञान नहीं कह सकते। लेकिन इसे भूविज्ञान से मिलता-जुलता तो अवश्य ही कह सकते हैं। ऐतिहासिक ज्ञान अनुमानसिद्ध (इनफरेन्शियल) या तर्क अथवा न्यायसिद्ध (लॉजिकल) होता है। हम अनेक प्रकार के प्रतीकों, लिपियों, मूर्तियों, शिला-लेखों, पुरावशेषों और खुदाइयों आदि का अध्ययन करके कुछ तथ्य एकत्र करते है, फिर भाषा विज्ञान, लिपिशास्त्र, पुरातत्वशास्त्र और वास्तुकला शास्त्र आदि की तत्सम्बधी खोजों और सिद्धान्तों की सहायता से अतीत का एक चित्र बनाते है। प्रथम सूची प्रमाण का और दूसरी सूची न्यायसंगति स्थापित करने का काम करती है।

मानवीय समानता

जो लोग इतिहास को विज्ञान मानने से इन्कार करते है, वे अपनी सफाई में मनुष्य के व्यक्तित्व और प्रत्येक व्यक्ति में स्वतंत्र इच्छा शक्ति होने की दलील भी देते है। लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान की सहायता से यदि हम इस वैज्ञानिक सत्य को मान लें कि प्रत्येक मानव-प्राणी में प्राकृतिक रूप से जन्म से ही विवेक, अर्थात् सोचने और समझने-बूझने का गुण होता है, तो उन विरोधियों की दलील लचर पड़ जाती है। हर मनुष्य का मौलिक, जन्मजात तथा अन्य जीवधारियों, प्राणियों से अलग उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान करने वाला गुण है विवेक। इसी कारण वह अपने जीवन की रक्षार्थ किये जाने वाले प्रयत्नों तथा प्राकृतिक शक्तियों से संघर्ष करने के दौरान दूसरों के सम्पर्क मे आता है, दूसरों से सहयोग लेता और करता है।

जिस प्राकृतिक गुण ने पशु को विकसित करके मनुष्य-प्राणी को जन्म दिया, वही मानवीय गुण मनुष्य को आन्दोलित तथा प्रयत्नशील करके सामाजिक विकास की प्रेरक शक्ति बन जाता है। इस दृष्टि से मनुष्य के विशेष व्यक्तित्व और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का यह अर्थ होगा कि हर व्यक्ति मे चलने की शक्ति है, क्षमता है, वह अपने कदम स्वयं उठा सकता है; अब चूंकि यह गुण, यह क्षमता सब में है, इसलिए सभी मनुष्य चलते हैं। इतिहास इस सामूहिक रफ्तार, सहयोगी चाल से बनता है और सबकी दिशा एक ही होती है। इस सामान्य दिशा का संकेत अनेक घटनाओं तथा परिस्थितियो के सम्मिश्रण से हर क्षण मिलता रहता है।

ऐतिहासिक विकास-क्रम

अत: यद्यपि वैज्ञानिक ज्ञान के सत्य होने का मानदंड यह नहीं है कि भविष्यवाणी अक्षरश: सत्य ही हो। फिर भी, काफी हद तक सम्भावनाओं के रूप में भविष्य के बारे में पहले से बतलाया जा सकता है या फिर कम से कम भावी घटनाओ अथवा विकास-क्रम के विषय में अनुमान तो लगाया ही जा सकता है। जैसा पहले कहा जा चुका है मूलत: मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है, उसका मौलिक मानवीय गुण विवेक है और नियमानुशासित भौतिक व्यवस्था से सम्बंधित होने के कारण यही गुण मानव और मानव-समाज के विकास का कारण बनता है। इस प्रकार इतिहास अनेकानेक घटनाओं का पूर्व-निश्चित विकास-अनुक्रम है इस विकासक्रम को पहले से निश्चित करने वाले बहुत से कारण हो सकते और होते हैं। लेकिन ये सभी कारण एक ही समय पर एक ही प्रकार से काम नहीं करते हैं इसलिए किसी एक ऐतिहासिक काल मे घटना-विकास, अर्थात् स्थिति-विकास के लिए बहुत-सी सम्भावनाएं रहती हैं, बहुत से मार्ग होते हैं लेकिन निश्चित कार्य रूप में कोई एक ही सम्भावना वास्तविकता में परिणत होती है—अर्थात् विकास-क्रम एक ही मार्ग, एक ही सम्भावना के अनुकूल आगे बढ़ता है।

इतिहास दर्शन यही बतलाता है कि वही एक मार्ग, वही एक सम्भावना वास्तविक रूप में परिणत होने के लिए क्यों चुनी गयी? ऐतिहासिक

विकास में उसी एक को क्यों अपनाया गया? और जब हम एक ही प्रकार की वरीयता अथवा चुनाव के ठोस कारणों तथा स्पष्ट परिस्थितियों को विश्व के भिन्न-भिन्न भागों में घटित होते हुए देखते हैं, तो उनकी न्याय-संगति के आधार पर हम इतिहास के कुछ नियम बनाते हैं और जब कभी भी उसी प्रकार के कारण और परिस्थितियां हमें दिखलायी देती हैं, तो पूर्वानुभव तथा उन नियमों की सहायता से सम्भव विकास की भविष्यवाणी भी कर सकते हैं।

इतिहास का प्रयोजन

आधुनिक इतिहास दर्शन का आरम्भ इटली के सुयोग्य किंतु उपेक्षित इतिहासशास्त्री गियाम्बेतिस्ता वीको (१६६८–१७४४) से होता है, जिसने कहा था कि "मानवजाति का स्वयं अपना निर्माण करना ही इतिहास है।"[३] यहीं से इतिहास में मनुष्य को केन्द्रीय स्थान प्राप्त हुआ और तरह-तरह के दर्शनशास्त्रों की सूची में इतिहास दर्शन भी सम्मिलित किया जा सका। वीको के अनुसार इतिहास दर्शन का कार्य है ऐतिहासिक घटनाओं के अनुक्रम में विवेकपूर्ण अथवा बुद्धिपूर्ण प्रयोजन की खोज करना। मानववादी दृष्टिकोण से इतिहास दर्शन प्रयोजनवादी (पर्पज़िव) होता है।

वह प्रयोजन होता क्या है? वह प्रयोजन है स्वतंत्रता की प्राप्ति अथवा खोज; अर्थात् ऊंचे से ऊंचे स्तर पर जीवित रहने के लिए किया जाने वाला शारीरिक-बौद्धिक संघर्ष। स्वतंत्रता-प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति के लिए मनुष्य अनेक प्रकार की संस्थाओं, संघों, रीति-रिवाजों, धर्मों, राजनीतिक संगठनों, उत्पादन-यंत्रों आदि की साधन-रूप में रचना करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक इतिहास दर्शन के मानववादी प्रयोजन के पीछे विश्व की विवेकपूर्ण नींव की मान्यता निहित है।

अध्यात्मवाद की ओर

आधुनिक यूरोपीय संस्कृति के आरम्भ के नवजागरणकाल के रोमांचकारी मानववाद ने इतिहास की गति की प्रेरक अथवा इतिहास की चालक

---

३. देखिए; बी० क्रोचे : 'फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ गियाम्बेतिस्ता वीको' और वीको : न्यू साइन्स।

शक्ति के रूप में प्रकृति से परे की पारलौकिक या पारभौतिक सत्ता और इच्छा के स्थान पर मानव को प्रतिष्ठित कर दिया। १८वीं और १९वीं शताब्दियों में इतिहास पर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गये। इन ग्रंथों का साहित्यिक आदर किया जाता है। इसी काल में जर्मनी के हीगेल (१७७०—१८३१) ने धर्मों के आधार पर एक विस्तृत इतिहास दर्शन की रचना की जिसके अनुसार प्रत्येक धर्म एक सद्गुण का प्रतिनिधित्व करता है और ये सब धर्म, तमाम सद्गुणों के रूप में, मिलकर स्वतंत्रता का सामान्य एवं व्यापक आदर्श निश्चित करते हैं।[४]

हीगेल का कथन था कि दर्शन का इतिहास ही वास्तविक इतिहास होता है। लेकिन ऐसा तभी हो सकता है जब दर्शन को हम एक सृजनात्मक मानवीय व्यवहार स्वीकार कर लें, जैसा कि वास्तव में वह है और वीको ने कहा भी था, कि मानव जाति का स्वयं अपना निर्माण करना ही इतिहास है। किंतु किसी भी मानवीय कार्य या व्यवहार के पूर्व उसके विषय में कुछ विचार, इच्छा, संवेग आदि का होना आवश्यक है। अब प्रश्न उठता है कि आखिर इन सब का स्रोत अथवा उद्गम क्या और कहा है? हीगेल ने शायद इस प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर ढूंढने का प्रयत्न नहीं किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसका इतिहास दर्शन वीको की मानववादी आधारशिला से असम्बद्ध हो गया और निरे अध्यात्मवादी चिंतन की दिशा में चला गया। वीको के कथन मे भौतिक तथा मानसिक (बौद्धिक) जगत के परस्पर सम्बंध का जो संकेत निहित था, उसे हीगेल विकसित नहीं कर सका।

लेकिन अंग्रेज इतिहासकार थामस बकेल (१८२१-६२) के प्रकृतिवादी इतिहास दर्शन ने उपर्युक्त दो भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों में समन्वय एवं संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसका कहना था कि इतिहास मनुष्य की भोजन सामग्री, उसके निवास-स्थान की भूमि, पैदावार, जलवायु और सामान्य प्राकृतिक अवस्थाओं से प्रभावित होता है।[५] इसी संदर्भ में उसने इतिहास की

४. देखिए; हीगेल : 'फिलॉसफी ऑफ हिस्टरी' और 'फिलॉसफी आफ राइट'।

५. देखिए: थामस बकेल : इन्ट्रोडक्शन टू द हिस्टरी ऑफ सिविलाईजेशन इन इंगलैण्ड

गति में विचारों और मन-मस्तिष्क को भी अत्यधिक महत्व दिया। उसने कहा कि यूरोपीय सभ्यता की प्रगति की यह विशेषता है कि प्राकृतिक नियमों का प्रभाव कम से कम और मानसिक नियमों का प्रभाव अधिक से अधिक होता गया है। सभ्यता की प्रगति की कसौटी यही है कि मस्तिष्क का बाह्य शक्तियों एवं परिस्थितियों पर नियंत्रण प्राप्त करता जाय। लेकिन बकेल ने भी हीगेल की तरह मस्तिष्क तथा मानसिक नियमों का उद्‌गम खोजने की कोशिश नहीं की और इस प्रकार यदि विषमता की दृष्टि से देखा जाय, तो बकेल के इतिहास दर्शन को हीगेल के साथ ही जोड़ा जा सकता है।

भौतिकवादी दिशा

दार्शनिक रूप से हीगेल की अध्यात्मवादी विचारधारा की उपर्युक्त कमजोरी को जर्मनी के ही फ़ायरबाख (१८०४-७२), कार्ल मार्क्स (१८१८-८३) ने पकड़ा और मार्क्स ने स्पष्ट रूप से कहा कि चेतना भौतिक तत्व पर आश्रित तथा आधारित होती है। लेकिन तत्व-मीमांसा की दृष्टि से मार्क्स ने जिस नयी दिशा का निर्देशन किया, ठीक उसी के अनुकूल इतिहास की व्याख्या नहीं की। चेतना (अथवा विचारों) का आधार भौतिक तत्व है, इस निष्कर्ष पर मार्क्स वैज्ञानिक खोजों तथा ज्ञान के आधार पर पहुंचा था। विज्ञान ने बतलाया कि चेतना और प्राण (जीव) के उदय होने से कई युगों पूर्व से प्रकृति में प्राण (जीव) के मौलिक गुण तथा तथ्य का उत्तरोत्तर विकास होता रहा है।

इसी दार्शनिक सिद्धान्त को ध्यान में रखकर यदि विषय-सत्य को देखा जाय, तो ज्ञात होगा कि इतिहास मनुष्य की स्वयं अपनी रचना है और इस रचना में किसी भी मानव से परे वाली शक्ति का हस्तक्षेप नहीं होता है। इस दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर लौकिक मानववादी इतिहास दर्शन की रचना बिना किसी कठिनाई के की जा सकती थी। लेकिन मार्क्स ने अपनी विचार-शैली को एक दूसरी ही दिशा में मोड़ दिया। शायद हीगेल के इतिहास दर्शन को ग़लत साबित करने के जोश में उसने सामाजिक विकास की प्रक्रिया में विचारों अर्थात् चिंतन-शक्ति को उचित स्थान देने से इन्कार कर दिया और

आर्थिक अर्थात् उत्पादन-साधनों के विकास को ही सम्पूर्ण सामाजिक विकास समझ लिया। यद्यपि इसमें कोई शक नहीं कि उसने विचारों की भूमिका को एकदम नकारा नहीं है, फिर भी उसे वह गौण समझता है। मूल या प्राथमिक आधार नहीं, बल्कि इस पर या इससे विकसित होने वाली अधिसंरचना, (सुपरस्ट्रकचर), बुनियाद नहीं बल्कि उस पर बनने वाली इमारत। फलत. इतिहास की आर्थिक व्याख्या ने सामाजिक इतिहास को प्राकृतिक इतिहास अलग कर दिया।

चेतना और सामाजिक विकास

लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य इस दुनिया में उत्पादन-यंत्र अपने साथ लिये हुए नहीं पैदा हुआ था, उत्पादन-यंत्र तो मनुष्य की एक सामाजिक रचना है। मनुष्य का जन्म अपने प्रथम से प्रथम यंत्र की रचना से भी पहले हुआ था। सामाजिक प्राणी बनने से पूर्व वह मात्र शारीरिक प्राणी था और मानवीय गुण—मस्तिष्क एवं विवेक—का उदय मानव-जाति की सामाजिक अवस्था से पहले हुआ था और सबसे पहला यंत्र मनुष्य ने अपने मस्तिष्क की सहायता से ही बनाया था। मस्तिष्क का एक प्राकृतिक विकास होता है और उसके अपने नियम होते हैं। मस्तिष्क के प्राकृतिक विकास की प्रक्रिया में एक ऐसा स्थान आता है, जहाँ वह मनुष्य के सामाजिक विकास या इतिहास से मिल जाती है। फलतः दोनों—मस्तिष्क और समाज—के विकास की प्रक्रियाएं एक-दूसरे को प्रभावित करने लगती हैं।

एक और चीज है। किसी कार्य से पूर्व उसके विषय में कुछ विचार का होना आवश्यक है, क्योंकि कोई भी कार्य विचार-शून्य नहीं होता है। और पूर्व निर्मित विचारों पर व्यवहार के अनुभवों का प्रभाव भी पड़ता है। यदि मोटे-मोटे तौर पर यही प्रश्न किया जाय कि पहले व्यवहार होता है अथवा उसका विचार, पहले तत्व है अथवा उसकी चेतना, तो हर विचारवान व्यक्ति विचार अथवा चेतना को ही प्राथमिकता देगा। अनुभव के आधार पर विचार बनाने और उन्हें बनाये रखने की क्षमता ही तो मनुष्य को निम्न श्रेणी के पशुओं से भिन्न करती है। इसी क्षमता की बदौलत तो मनुष्य प्रकृति पर नियंत्रण पाता तथा समाज का निर्माण और इतिहास की रचना करता है।

लेकिन मार्क्स इसी तथ्य को, जानता हुआ भी, अवहेलना कर गया। फलत एक ठोस, प्रमाणित तथा विज्ञान-सिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त को लेकर चलने के बावजूद उसका इतिहास दर्शन गलत दिशा में चला गया—क्योंकि मानव-अस्तित्व के इस मौलिक सत्य की उपेक्षा कर दी गयी। "चेतना का आधार भौतिक तत्व है," मार्क्स के दार्शनिक मूल सिद्धान्त का अर्थ यह है कि विचार वास्तविक जगत तथा प्रकृति से अलग कोई निरे चिंतन से कल्पना नहीं है, कि मानव से पूर्व के शारीरिक विकास के क्रम में ही उनकी जड़ें पायी जाती हैं। चेतना उसी विकास का मात्र एक रूप है।

विचारों की गत्यात्मकता

अब चूंकि मस्तिष्क तथा इसका गुण 'चेतना' पहले आते हैं और समाज बाद में, इसलिए उस चेतना के अन्य रूप—बुद्धि, इच्छा, संवेग आदि—मनुष्य के सामाजिक रूप से उसी तरह से सम्बधित नहीं हो सकते हैं जिस तरह से कि कारण और परिणाम। इसमें कोई शक नहीं कि विचारों अथवा चेतना पर सामाजिक परिवेश का प्रभाव पड़ता है, लेकिन चूंकि उनका जन्म समाज के जन्म से पहले होता है, इसलिए उनकी गति के अपने नियम होते हैं, जिनके अनुकूल उनका अपना विकास होता है। अनेक प्रकार के मत-धर्म, रीति-रिवाज, कानून और शास्त्र आदि स्थापित तथा प्रचलित सामाजिक सम्बंधों की नींव पर आधारित सैद्धांतिक रूप हैं। कुछ विशेष सैद्धांतिक रूप सामाजिक संगठनों के समकालीन हो सकते हैं, लेकिन दोनों में कोई कार्य-कारण या कारण-परिणाम का सम्बंध होना आवश्यक नहीं है। नीति-धर्म और कानूनों के विकास और धर्मों के इतिहास में उनकी अपनी क्रमबद्धता तथा न्याय-संगति ही उनका अनुक्रम (प्रोसेस) होता है जो सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं से बिल्कुल स्वतंत्र होता है। विभिन्न प्रकार के धर्मों, कानूनों और नैतिक नियमों एवं मूल्यों के बीच के न्यायसंगत सम्बंध मार्क्सवादी इतिहास दर्शन के मान्य सैद्धांतिक ढांचों अथवा रूपों और सामाजिक सम्बंधों के बीच के कारणात्मक सम्बंध की अपेक्षा अधिक स्पष्ट मिलते हैं। सच तो यह है कि वास्तविकता इससे बिल्कुल उल्टी है। प्राचीन धर्मों, धार्मिक सिद्धांतों, नैतिक मूल्यों और

कानून-सम्बंधी विचारों की परम्परा बतलाती है कि इनसे प्रेरित होकर इतिहास मे बहुत से ऐसे आन्दोलन चले हैं जिन्होंने स्थापित सामाजिक सम्बंधों और राजनीतिक संगठनों को ही बदल दिया और उनके स्थान पर अधिक प्रगतिशील, अधिक स्वतंत्र और अधिक जनतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विचारों की गति और सामाजिक संस्थाओं का विकास समानान्तर है। इतिहास इन दोनों से बनता है, दोनों ही मानव की सृजन शक्ति के रूप हैं। मनुष्य अपने समूचे व्यक्तित्व से इतिहास की रचना करता है, मन-मस्तिष्क से भी औरहाथ-पैर से भी—फिर भी महत्व मन-मस्तिष्क का ही अधिक होता है क्योंकि शरीर के रोगी हो जाने पर मन का स्वस्थ व्यक्ति कुछ न कुछ अवश्य कर सकता है, लेकिन शरीर से पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति मानसिग रोगी होने पर बिल्कुल बेकार हो जाता है। चूँकि मन-मस्तिष्क भी मनुष्य के शारीरिक अस्तित्व का ही एक अभिन्न अंग है, इसलिए विचारो को इतिहास की प्रेरक शक्ति मान कर भी लौकिक या वैज्ञानिक मानववादी इतिहास दर्शन का भौतिकवादी पक्ष दुर्बल नहीं पड़ता। अंधे, प्राणहीन तथा मस्तिष्कहीन उत्पादन-साधनों को सामाजिक विकास का प्रेरक तथा प्रयोजन बनाकर मार्क्स ने इतिहास से उसका मानवीय अंग निकाल कर फेंक दिया, जिससे पूरा प्रक्रम (प्रोसेस) बिल्कुल यंत्रवत् हो गया। इसमें मनुष्यों की भूमिका विवेकशील बुद्धिजीवी व्यक्तियों की भूमिका नहीं रह गयी, बल्कि वर्ग घृणा और राज-सत्ता की लोलुपता के आक्रामक संवेगों के प्रभाव में पड़ कर भीड़ो मे खो गयी। ऐसे विवेक-रहित परिवेश में नैतिक मूल्यों का मानवीय स्रोत खत्म हो जाता है और मानववादी इतिहास दर्शन का प्रयोजन 'स्वतंत्रता' के लक्ष्य की जगह मानसिक तथा शारीरिक सैन्यीकरण की आवश्यकता की अ -ति तथा पूर्ति बन जाता है और विवेकहीन कल्पित सामूहिक अहं की वेदी पर मानवीय व्यक्तित्व की बलि दे दी जाती है।

भौतिक तथा मानसिक तत्वों का सामंजस्य

एम० एन० राय ने अपने वैज्ञानिक मानववादी दर्शन में मार्क्स के मूल भौतिकवादी दार्शनिक पक्ष को सही मानकर उसके इतिहास दर्शन को इन

उपर्युक्त दुर्बलताओं से बचाने की ओर इस प्रकार उसे आगे बढ़ाने या उससे आगे बढ़ने की कोशिश की है। वैज्ञानिक मानववादी इतिहास दो समानान्तर दिशाओं में चलता है—मानसिक और भौतिक। दोनों का आधार अपने-अपने न्याय और नियम हैं। विचारों की गत्यात्मकता सामाजिक विकास की गति के सामानान्तर चलती है। दोनों ही अलग-अलग होते हुए भी एक-दूसरी को बराबर प्रभावित करती रहती हैं। राय ने इन दो समानान्तर आन्दोलनों का, जिनकी मार्क्स तथा अन्य मार्क्सवादी विचारकों ने अपेक्षतः अवहेलना कर दी थी, बड़ा महत्वपूर्ण स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है : "सामाजिक सम्बधो मे प्रवेश करने से पहले मानव के समस्त विकास-क्रम की मार्क्स ने बिल्कुल उपेक्षा कर दी। मानव-स्वभाव अर्थात् मानव-प्रकृति की जड़ें समाज के आर्थिक-राजनीतिक संगठनों से बहुत पहले मिलती हैं। मस्तिष्क की नींव पहले से ही है, अर्थात् आरम्भिक अवस्था में मानसिक व्यवहार प्राकृतिक पर्यावरण तथा परिस्थितियों पर आश्रित तथा आधारित रहता है। दोनों का परस्पर-सम्बध कारण-परिणाम का सम्बंध नहीं है, बल्कि प्राथमिकता का है। निरी भौतिक अवस्था की पृष्ठभूमि मे प्राचीन मन-मस्तिष्क उगता और विकसित होता है और बाद में भौतिक तत्व के एक विशेष प्रकार के सगठन होने के नाते प्राथमिकता भौतिक तत्व की है।"

ईसके बाद राय ने मनुष्य की व्यष्टिवादी अथवा व्यक्तिवादी रोमाच-कारी रचना-शक्ति का व्यवस्थित सामाजिक तथा ऐतिहासिक प्रगति के बुद्धिवादी या विवेकशील सिद्धान्त से समझौता कराया हैं। मनुष्य की भावना, इच्छा, विवेक, संवेग और बुद्धि का भौतिक तथा जैविक स्रोत स्थापित करके राय ने मार्क्स के इस कथन की पुष्टि की है कि 'मनुष्य ही इतिहास बनाता है।' स्वयं राय का कहना हैं कि 'इतिहास समस्त मानवीय प्रयासों का एक अभिन्न अंग होने के कारण दैवाधीन आकस्मिक घटनाओं का कोई नियमहीन तथा ऊट-पटांग पिंड नहीं है।'

६

दलों तथा सत्ता-केन्द्रीयता से मुक्त जनतंत्र

वैज्ञानिक मानववाद के समाज दर्शन और इसके मौलिक यथार्थवादी दार्शनिक पक्ष पर अब तक हमने जो कुछ कहा है—और बार बार कहा है—उससे यह तो स्पष्ट हो ही जाना चाहिए कि किसी भी मानववादी के लिए यह जीवन एक समूची चीज है, इसे टुकड़ों टुकड़ों में नहीं बांटा जा सकता। हां, आज के पेचीदा और बहुरंगी समाज में इन्सान के जीवन के भी अनेक पक्ष होते हैं। लेकिन वैज्ञानिकता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा चिंतन-प्रक्रिया और वैज्ञानिक व्यवहार-शैली में ही यह क्षमता है कि इन भिन्न-भिन्न पक्षों में समन्वय और संतुलन स्थापित किया जा सके और सामान्य-स्वस्थ व्यक्तित्व को खण्डित और विकृत न होने दें। और ठीक इसीलिए हमारी राजनीति भी वैज्ञानिक राजनीति होनी चाहिए। अत: मानववादी राजनीति भी वैज्ञानिक राजनीति के अलावा कुछ नहीं है—न कि राजनीतिक विज्ञान, जैसा कि विश्वविद्यालयों की भाषा में कहा जाता है।

वैज्ञानिक जीवन दर्शन मानने वालों के लिए कोई भी सत्य अमर नहीं है, शाश्वत् नहीं है। उनका आधार है अनुभव तथा परीक्षण। उन्हें किसी पूर्व-घोषित सत्य को नये अनुभवों तथा प्रयोगों के फलस्वरूप अस्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती, बल्कि वे तो प्रतिक्षण हर मान्य सत्य को प्रयोग की कसौटी पर कसते रहते हैं। विरोधों से उन्हें एक नयी प्रेरणा और नये प्रयोग के लिए संकेत मिलता है। वो जिस दुनिया में रहते हैं उससे उनका वास्तविक मोह होता है और चूंकि वही उनका स्वामी तथा भाग्य-विधाता होती है, इसलिए उसकी भलाई तथा निरन्तर प्रगति के लिए हमेशा प्रयत्नशील

रहते हैं। उनके मन में समष्टि होती तो है, लेकिन प्रयोग करते समय वे उसके छोटे से छोटे अंश तक का परीक्षण करते हैं। अलग-अलग अंगों के परीक्षण के बाद सबके बीच के परस्पर-सम्बंध निश्चित करके समष्टि की गतिविधि तय करते हैं और भविष्य की सम्भावनाओं की समुचित जानकारी प्राप्त करते हैं।

वैज्ञानिक राजनीति

इसी वैज्ञानिक विधि को राजनीति में प्रयोग करके जब हम अपना कोई आन्दोलन अथवा कार्यक्रम तैयार करते हैं, तो उसे कहते हैं वैज्ञानिक राजनीति। धार्मिक, आध्यात्मिक अथवा पारभौतिक जीवन-दर्शनावलम्बियों की भांति वैज्ञानिक की इहलोक और परलोक दो दुनियाएं नहीं होती हैं, उसके व्यक्तिगत तथा सामाजिक व्यवहार के बीच दीवार नहीं होती है, अपने और पराये का भेद नहीं होता है। वह किसी भी वस्तु अथवा घटना के ऊपरी रूप की तह में जाकर प्राकृतिक तथा स्वाभाविक तत्वमीमांसा करता है। वैज्ञानिक राजनीतिज्ञ को अपने तथा दूसरों के भविष्य का आभास रहता है और इसलिए वह किसी भी आकस्मिक घटना के लिए पहले से तैयार रहता है।

वैज्ञानिक अथवा मानववादी राजनीति के अन्तर्गत राजनीति के सिद्धान्तों को भी कमोबेश वैज्ञानिक सिद्धान्त ही समझा जाना चाहिए। लेकिन, कम से कम अपने देश में, राजनीतिक व्यवहार-व्यापार में संवेगात्मक अर्थात् जोशीले व्यवहार की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। इसी व्यावहारिक पक्ष के महत्व के कारण अधिकतर राजनीतिक सिद्धान्तों में संवेगात्मक पक्ष पर अधिक जोर दिया जाता है—जो कुछ हम चाहते हैं उसी को एक ही, प्रामाणिक, आवश्यक और आदर्श लक्ष्य के रूप में पेश किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि मूलतः व्यापक समाज विज्ञान की शाखा होने के नाते तो राजनीति भी एक विज्ञान है, लेकिन फिर भी, चूंकि इस वैज्ञानिक क्रिया में काफ़ी बड़ी संख्या में और बिना कोई विशेष शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त किये लोग अपने-अपने मनचाहे ढंग से भाग लेते हैं, इसलिए मानवीय दुर्बलताओं की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है। लेकिन यह होते हुए भी हमें यह न भूलना चाहिए कि आखिर हैं ये दुर्बलताएं ही, और मनोविज्ञान, विशेषतः मानसिक

...तों से सम्बन्धित मनोविज्ञान के अनुसार किसी भी व्यक्तित्व में स...त्मक पक्ष का अधिक होना स्वास्थ्य का नहीं बल्कि रोग का लक्षण होता है। और संवेगों के प्रभाव को कम करने के लिए मनुष्य के बुद्धि और विवेक-पक्ष को अधिक से अधिक प्रभावकारी बनाने की जरूरत है—यद्यपि व्यापक स्तर पर सामान्य रूप से यह जल्दी नहीं किया जा सकता।

कुछ मोटे मोटे नियम

कुछ भी हो, राजनीति को विज्ञान मानने वालों के लिए यह आवश्यक है कि सवेगों की इस कठिनाई के बावजूद कुछ तो ऐसे सिद्धान्त तय ही कर ले जिनसे मार्गनिर्देशन का काम लिया जा सके और उनका वैज्ञानिक औचित्य भी हो। ऐसे ही कुछ मोटे मोटे सिद्धांत यहा दिये जा रहे हैं :

१—अनेकानेक मानवीय कार्यों में से एक कार्य राजनीति भी है जिसका उद्देश्य सार्वजनिक मामलों का प्रशासन एवं प्रबंध करना होता है ताकि अगर बिल्कुल ही सबका नहीं, तो अधिक से अधिक लोगों का भला हो सके। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए हमें यह समझ लेना चाहिए कि किसी मानव समाज अर्थात् समुदाय में कई तरह के समूह होते हैं और इन विभिन्न समूहों के परस्पर-सम्बंध यह तय करते हैं कि उस समुदाय में राजनीतिक व्यवहार का क्या रूप होगा।

२—किसी भी नये विचार की शुरुआत में ही इस बात का साफ़ साफ़ पता नहीं चल पाता कि इसकी क्या क्या अर्थापत्तियां हो सकती हैं, इससे कौन कौन से और विचार पैदा होते या हो सकते है या इस विचार के आगे पीछे क्या कुछ परिस्थितियां निकल सकती हैं। विचारों की गत्यात्मकता या गति-शीलता के परिणामों का पता तो वास्तविक अनुभवों के दौरान धीरे-धीरे चलता है।

३—हमें किसी भी समस्या पर केवल अपने या अपने समान सिद्धातों-विचारों वाले लोगों के अनुभवों के आधार पर ही विचार-विमर्श नहीं करना चाहिए बल्कि, जहां तक सम्भव हो वहां तक, दुनिया भर के अनुभवों को

आधार बनाना चाहिए, जिस तरह विज्ञानी लोग करते हैं। ऐसा इसलिए करना ज़रूरी है क्योंकि आज का सम्पूर्ण मानव-समाज एक सुगठित शरीर की भांति है, उसके अंग अंग आपस में एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और पूरे शरीर की परीक्षा करके कुछ निर्णय निकाल कर जब हम अपने और अपने साथियो के अनुभवों पर पुनर्विचार करेंगे, तब जिस नतीजे पर पहुचेंगे, वह नतीजा कही अधिक सही और विश्वसनीय होगा और उससे हमारे भावी कार्यक्रम को अपेक्षतः अधिक सहायता मिलेगी।

४—कैसे और कितने भी क्रांतिकारी सकट की परिस्थितियां क्यो न हो, इन्हीं के साथ साथ क्रातिविरोधी सम्भावनाएं भी उतनी ही मजबूत होती है। बल्कि यथार्थ तथा अधिकतर अनुभव तो यह है कि किसी संकट की परिस्थितियों में क्रांतिविरोधी शक्तियो का पलड़ा भारी होता है। इसलिए क्रातिकारियो को अधिक आशावादी नहीं होना चाहिए।

५—वैज्ञानिक राजनीति की एक और विशेषता यह कि किसी भी तथ्य, घटना या अनुभव के स्पष्ट प्रकट रूप को ज्यों का त्यों नही मान लेना चाहिए, बल्कि उसकी तह में जाकर उसकी वास्तविकता जानने-समझने की कोशिश करनी चाहिए। इस तह में जाने का वैज्ञानिक तरीका यह है कि जब हम अपने किसी अनुभव की जांच-पड़ताल करें, तो उस समय थोड़ी देर के लिए, उस अनुभव के बारे में हमें अपनी धारणा, अपना विरोध अथवा समर्थन, भूल जाना चाहिए, अर्थात् स्थगित कर देना चाहिए। और तब अपने अनुभव के विषय तथा तथ्यों को समूचे देश और फिर विश्व भर के व्यापक, आम ढाचे और परिस्थितियों के संदर्भ में रखकर उन्हें परखना चाहिए, उनके कारणों तथा वास्तव में घटित और सम्भावनाओं के रूप मे घटित हो सकने वाले परिणामो पर विचार करना चाहिए। अर्थात् अपने अनुभवों की और सभों के अनुभवो से तुलना करने के बाद ही किसी सही नतीजे पर पहुचा जा सकता है।

इस विधि के अपनाने से यह लाभ होगा कि हमें यह पता चल जायेगा कि हमने जो कुछ अनुभव किया है, कहीं वह भ्रम या भ्रांति तो नहीं था; ऐसा हो भी सकता है? उदाहरण के लिए, आपने कोई चीज़ बड़ी तेज़ धूप

में रखी और दो घन्टे बाद देखा कि वह चीज़ एकदम गीली हो गयी है। तो क्या धूप में ठंडक या नमी होती है ? यदि आपने केवल अपने ही अनुभव पर भरोसा किया, तब तो यही नहीं, बल्कि आप यह भी सोचेंगे कि सूर्य में वे सभी गुण हैं जो वास्तव में चांद में होते है। और अगर आपने इसी प्रकार के औरों के अनुभवों तथा प्रयोगों से अपने की तुलना कर ली होती, सूर्य तथा धूप के सामान्य प्राकृतिक गुणों की जानकारी प्राप्त कर ली होती, तो आपको निश्चय ही यह मालूम हो जाता कि आपका अपना अनुभव केवल भ्रांति था।

इस वैज्ञानिक विधि से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि भविष्य में जब कभी भी कुछ विशेष प्रकार की परिस्थितियां इकट्ठा होंगी, तो अपने पुराने अनुभव की मदद से आप अनुमान लगा सकेंगे कि आगे क्या होने वाला है। अर्थात् समान परिस्थितियों के समान परिणाम निकलते हैं।

दृष्टिकोण की इसी वैज्ञानिकता की बदौलत एम० एन० राय ने १९२२ में भविष्यवाणी की थी कि प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद में अंग्रेज़ो की आर्थिक स्थिति ऐसी हो रही है कि उन्हें मजबूरन उपनिवेशो को स्वतन्त्र कर देना होगा। अब अर्थशास्त्र तथा राजनीति का कोई भी विद्यार्थी १९२० से १९४७ तक का इतिहास देख ले। द्वितीय महायुद्ध १९३९-४५ के आरम्भ होते ही राय ने कहा कि फाशिस्टों की पराजय तथा फाशिस्ट-विरोधी शक्तियों की जीत के फलस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अंत होना अवश्यम्भावी है। अब कोई भी इस भविष्यवाणी की सत्यता देख सकता है। इसी प्रकार सौ वर्षों से अधिक हुए, मार्क्स ने भी समाजविज्ञानों में वैज्ञानिक प्रणाली को महत्व दिया था और उसकी अनेक भविष्यवाणियां सही भी सिद्ध हुईं। यह और बात है कि उसके अनुयाइयों या अन्धभक्तों ने मार्क्सवाद को केवल मार्क्स लिखा हुआ ही समझ लिया, नयी-नयी वैज्ञानिक खोजों के आधार पर उसमें संशोधन नहीं किया। फलत: आज वह भी एक धार्मिक या पौराणिक दर्शन बन गया है।

राजनीति—क्या और क्यों ?

वैज्ञानिक दृष्टिकोण समझ लेने के बाद अब हमें सीधे अपने विषय अर्थात् मानववादी राजनीति पर आ जाना चाहिए। किंतु हमारे लिए यह

आवश्यक है कि सामान्य, व्यापक राजनीतिक दर्शन अर्थात् राजशास्त्र के मूल दार्शनिक पक्ष के बारे में स्पष्ट हो लें क्योंकि इससे यह चीज साफ हो जायेगी कि आखिर हम या कोई भी राजनीति करता ही क्यों है ? यह राज क्या चीज है जिसके प्रति हमें कोई नीति अपनाने की आवश्यकता पड़ती है ?

यह तो सर्वविदित है कि शारीरिक रूप से एक अकेला व्यक्तिगत प्राणी अथवा जीवधारी होने के साथ-साथ मनुष्य एक सामाजिक प्राणी अर्थात् समाज (समूह, समुदाय आदि) में रहने वाला प्राणी भी होता है। इसका अर्थ हुआ कि मनुष्य के कुछ कार्य तो केवल अपने लिए, अर्थात् व्यक्तिगत कार्य होते है और कुछ कार्य जिस समाज से वह रहता है, उसके लिए या उससे सम्बन्धित होते हैं।

इस समाज के भीतर व्यक्तियों अर्थात् व्यक्ति-व्यक्ति लोगों के अलावा कुछ और भी छोटे छोटे समूह या संस्थाएं भी होती है जो लोगों के परस्पर-सम्बंधों तथा उनके अपने हितों के लिए अस्तित्व मे आती हैं। इन्हीं संस्थाओं मे से एक संस्था राज्य भी है जिसका मुख्य कार्य या उद्देश्य समाज अर्थात् लोगों के सार्वजनिक या सामाजिक मामलों या कार्यों का संचालन या प्रशासन करना होता है। अतः राजनीति या राजनीतिक कार्य एक ऐसा विशेष प्रकार का सामाजिक कार्य होता है जो राज्य द्वारा या राज्य-नामक संस्था के अन्तर्गत सम्पन्न होता है।

और किसी भी राजनीतिक दर्शन का मुख्य या केन्द्रीय विषय व्यक्ति और राज्य के बीच का परस्पर-सम्बध होता है—बिल्कुल उसी तरह जिस तरह व्यक्ति और समाज के बीच के परस्पर-सम्बन्ध को समाज या समाजिक दर्शन अथवा समाजशास्त्र कहा जाता है। राज्य और व्यक्ति के परस्पर-सम्बंध को लेकर अनेकानेक राजनीतिक सिद्धांतों एवं दर्शनों की रचनाएं की गयी हैं।

इन विभिन्न दर्शनों एवं सिद्धांतों के विवरण में अभी न जाकर हम इतना ही कह कर संतोष करेंगे कि अनेक देशों के इतिहास में कभी न कभी एक ऐसा समय आया जब व्यक्ति और राज्य के हितों में टकराव आया

जिसका मुख्य ही नहीं बल्कि एक मात्र कारण यह था कि राज्य की ओर से व्यक्तियों—अर्थात् जनता, आम लोगों—को दबाया गया। और यही वे मौके थे जब लोकतंत्र या जनतंत्र की बात उठायी गयी।

लेकिन मानव समाज के अभी तक के पूरे इतिहास को यदि गौर से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि राजाशाही, तानाशाही, सामंतशाही आदि शासन व्यवस्थाओं की बात तो दूर रही, अपने को बड़ा जनतांत्रिक शासन कहने वाली व्यवस्थाओं में भी किसी न किसी रूप में समष्टिवाद का ही बोलबाला है। अर्थात् व्यक्तियों के सिर पर किसी न किसी प्रकार का समष्टिवाद, समूहवाद—राष्ट्र, वर्ग, जाति, धर्म, राज्य, संस्कृति आदि—हावी रहता है। और संविधानों में जनता को वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं प्रभुसत्ता के बारे में दिये गये पवित्र आश्वासन निरे शाब्दिक आडम्बर से अधिक कुछ अर्थ नहीं रखते।

अतः राज्य ही क्यों, किसी भी सामाजिक संगठन की आवश्यकता से लोगों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सामंजस्य या तालमेल स्थापित करने की जो समस्या राजनीतिक दर्शन की मूल समस्या थी, वह आज भी हल नहीं हुई है और जनतंत्र के मार्ग का रोड़ा बनी हुई है। और जब तक इसका समाधान नहीं हो जाता है तब तक न तो किसी न किसी प्रकार के अधिनायकवाद या तानाशाही से ही बचा जा सकता है और न जनतंत्र के सिद्धांत तथा व्यवहार के परस्पर-विरोध को दूर किया जा सकता है

आधुनिक युग के जितने भी प्रचलित राजनीतिक दर्शन हैं, सबका मूल उद्देश्य जनतंत्र के इसी अन्तर्विरोध की कठिन समस्या को हल करना रहा है। लेकिन अभी तक विफलता ही उनके हाथ लगी है। आखिर ऐसा क्यों हुआ? इस असफलता की असली जड़ जनतंत्र की आधुनिक धारणा में ही निहित अन्तर्विरोध में है, जैसाकि इस धारणा के इतिहास से पता चलता है।

संसदीय जनतंत्र की मूल दुर्बलता

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्राचीन काल के यूनान तथा अन्य लगभग सभी पुराने, सरल-सहज तथा आदिम समाजों के छोटे-छोटे नगर या ग्राम-

गणतंत्रों या ग्राम-समुदायों को जनतंत्र के आदर्श रूप के निकटतम कहा गया गया है। लेकिन कालांतर में ये सामाजिक इकाइयां अपने क्षेत्रीय आकार तथा जनसंख्या की दृष्टि से ज्यों-ज्यों बढ़ती गयीं और सभ्यता-संस्कृति का रूप विविध और जटिल होता गया, त्यों-त्यों इन आदिम किंतु वास्तविक और मूल गणतंत्रों या लोकतंत्रों या लोकराज्यों का पतन होने लगा और धीरे-धीरे मूल राजनीतिक विचारधारा की जगह तरह-तरह की सत्तावादी, अधिनायकवादी, पुरोहितवादी, सामन्ती, अभिजातवादी, कुलीनतावादी या राजतंत्री अर्थात् राजाशाही विचारधाराओं ने ले ली।

फलतः जनतंत्र का असली विचार ही धीरे-धीरे लुप्त हो गया और सदियों तक यही हालत रही। काफी बाद में इसका पुनरोदय हुआ, जबकि १३वीं-१४वीं शताब्दी के यूरोपीय नवजागरण (रनैसां) आन्दोलन के दौरान जनतंत्र की इस नवोदित भावना ने भ्रष्ट धार्मिक सत्ता (चर्च, मठ) और नागरिक सत्ता (सरकार) के बीच तथा पुरोहित और लौकिक अनुशासनों के बीच के संघर्ष का रूप ले लिया था। दार्शनिक एवं सैद्धांतिक स्तर पर ये सघर्ष पुराने परम्परागत अलौकिकतावाद तथा मानववाद और अंधविश्वासी रूढ़िवादिता तथा विज्ञान के बीच के संघर्ष थे।

लेकिन चूंकि समाज और सामाजिक परिस्थितियां अपने पुराने आदिम-कालीन रूपों से बहुत बदल चुकी थीं, इसलिए अब जनतंत्र या लोकतंत्र को किसी ऐसी विचारधारा की आवश्यकता थी जो नयी परिस्थितियों की ज़रूरतों के अनुकूल हो और इन नयी परिस्थितियों में सबसे महत्वपूर्ण चीज़ थी राष्ट्रीय राज्यों का उदय। इन राष्ट्रीय अथवा राष्ट्र-राज्यों के आकार अर्थात् क्षेत्र भी काफी बड़े-बड़े थे और इनकी जनसंख्या भी उन पुराने नगर-गणतंत्रों की अपेक्षा बहुत अधिक थी जिनके पतन का मूल कारण उन राजनीतिक अथवा शासकीय इकाइयों का बढ़ जाना था। ऐसी हालत में ईमानदारी, लगन और उच्च आदर्शों के बावजूद नये लोकतंत्र को भी उसी पुरानी कठिनाई का सामना करना पड़ा जिसने एक समय उसकी हत्या की थी।

<u>दार्शनिक पक्ष</u> : फिर भी कोई ऐसा रास्ता तो निकालना ही था

जिससे जनतंत्र को व्यावहारिक रूप दिया जा सके। और इसी रास्ते की तलाश के फलस्वरूप १७वीं-१८वीं सदी के यूरोप में अनेक राजनीतिक विचार-धाराएं विकसित हुईं जिनके आधार पर आधुनिक संसदीय जनतंत्र के विराट भवन का निर्माण हुआ। इन विचारधाराओं अथवा तथाकथित जनतांत्रिक सिद्धांतों के प्रवर्त्तकों में हॉब्स, लॉक, रूसो, मिल, बेन्थम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सब में अनेक मोटे-पतले मतभेद होने के बावजूद दो चीजे समान थीं : प्रतिनिधि सरकार (रेप्रिजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट) और सामाजिक संविदा या समझौते (सोशल कॉन्ट्रैक्ट) पर आधारित समाज की धारणा।

राजशास्त्र के सामान्य विद्यार्थी को पाठ्य-पुस्तकों में आम तौर पर यही बतलाया जाता है कि सामाजिक संविदा के सिद्धांत का मूल प्रवर्त्तक फ्रेंच दार्शनिक रूसो था। लेकिन वास्तव में इसका सबसे पहले प्रवर्त्तन अंग्रेज चिंतक हॉब्स (१५८८–१६७९) में किया था—यद्यपि अपने इतिहास-प्रसिद्ध ग्रंथ 'लेवायथन' मे उसने राज्य की भूमिका और प्रभुसत्ता को अत्यधिक महत्व दिया था। हॉब्स के अनुसार, राज्य का स्वभाव, गुण-धर्म ही केन्द्रीयकरण होता है। वास्तविकता और यथार्थ की सीमाओं से कहीं परे जाकर हॉब्स अति तार्किक या नैयायिक था और इसीलिए जनतांत्रिक मध्यमवर्गीय राज्य की सैद्धान्तिक आधारशिला रखने के साथ-साथ उसकी पूरी विचारधारा में अधि-नायकवाद, तानाशाही या सर्वसत्तात्मक राजप्रणाली के लिए भी पर्याप्त समर्थन मिलता है।

हॉब्स की पूरी विचारधारा की असली गड़बड़ी यह है कि मानव-स्वभाव के बारे में उसका बड़ा एकांगी दृष्टिकोण था। उसके मतानुसार चूंकि लोगों को शक्ति द्वारा ही आपस में बांधें या मिलाये रखा जा सकता है, इसलिए सरकार (राज्य) के हाथ में शक्ति होनी चाहिए। "तलवार के बिना की गयी संधियां शब्दों से अधिक कुछ नहीं होती हैं और उनकी सहायता से किसी तरह की भी सुरक्षा नहीं हो सकती है।" वह यहां तक कहता है कि "कानून से नैतिकता बनती है, न कि नैतिकता से कानून।"[1]

---

1. थामस हाब्स : एनसाइक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड पालिटिक्स में उसके सम्पादक वाल्टर थीमर द्वारा उद्धरित २०७

कल्पना की थी, उस लोकतंत्र अथवा जनतंत्र की पैदा होते ही भ्रूणहत्या कर दी गयी और स्वयं उसी के रचयिताओं तथा अभिभावकों ने ऐसी व्यवस्था की रचना की जिसमें हर कुछ वर्षों के बाद लोगों को केवल यही नहीं याद दिलाया जाता है कि सत्ता उनकी नहीं है, बल्कि औरों के हाथ सत्ता सौंप देने का अनुष्ठान भी उनसे सम्पन्न कराया जाता है।

खतरनाक 'के लिए' : आगे चलकर इस पूरी सैद्धान्तिक एवं वैचारिक स्थिति को कुछ व्यावहारिक और उपयोगितावादी राजनीतिक नेताओं ने तब और भी मजबूत बना दिया जब उन्होंने जनतंत्र की इस सूत्र में परिभाषा कर दी : "जनता का, जनता द्वारा और जनता के लिए शासन"। अब अगर न्याय-संगति के आधार पर गौर किया जाय तो हम देखते हैं कि जिस प्रकार सत्ता के प्रतिनिधायन के आधार पर बनी प्रतिनिधि सरकार यथार्थ में जनतंत्र का निषेध अथवा खण्डन है, उसी प्रकार इस त्रिसूत्री परिभाषा का तीसरा सूत्र पहले के दो सूत्रों को निरर्थक कर देता है। जहाँ तक 'जनता के लिए' शासन करने का सम्बन्ध है, उसका दावा तो कोई तानाशाह, राजा, सामन्त या कोई भी शासक कर सकता है और करता भी है, ये लोग भी जनता (या प्रजा) के हितों तथा इच्छाओं के अभिभावक तथा रक्षक होने का दम भरते हैं।

शायद इसी परिभाषा की दुर्बलता तथा न्याय-दोष को महसूस करके उपयोगितावादी अंग्रेज चितक जॉन स्टुअर्ट मिल ने जनता अर्थात् लोगों की इच्छाओं और हितों को मापने का यह तरीका सुझाया : "अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक भलाई।" लेकिन इससे भी असली, बुनियादी मर्ज दूर नहीं हुआ क्योंकि प्राथमिकता अब भी समष्टि या समूह के पास ही रही—समष्टि छोटा हो या बड़ा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जनतांत्रिक व्यवहार या व्यावहारिक जनतंत्र की मूल समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। इसे हल करने की कोई कोशिश नहीं की गयी। और इसका कारण यह है कि प्रतिनिधियों के माध्यम से नहीं, बल्कि बिल्कुल सीधे जनतंत्र में ही यह सम्भव हो सकता है कि सरकार जनता की और जनता द्वारा हो, 'जनता के लिए' का प्रश्न ही न हो। और इस मूल समस्या को हल न कर सकने का ही यह

जिससे जनतंत्र को व्यावहारिक रूप दिया जा सके। और इसी रास्ते की तलाश के फलस्वरूप १७वीं-१८वीं सदी के यूरोप में अनेक राजनीतिक विचारधाराएं विकसित हुईं जिनके आधार पर आधुनिक संसदीय जनतंत्र के विराट भवन का निर्माण हुआ। इन विचारधाराओं अथवा तथाकथित जनतांत्रिक सिद्धांतों के प्रवर्त्तकों में हॉब्स, लॉक, रूसो, मिल, बेन्थम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सब में अनेक मोटे-पतले मतभेद होने के बावजूद दो चीजे समान थीं : प्रतिनिधि सरकार (रेप्रिजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट) और सामाजिक संविदा या समझौते (सोशल कॉन्ट्रैक्ट) पर आधारित समाज की धारणा।

राजशास्त्र के सामान्य विद्यार्थी को पाठ्य-पुस्तकों में आम तौर पर यही बतलाया जाता है कि सामाजिक संविदा के सिद्धांत का मूल प्रवर्त्तक फ्रेंच दार्शनिक रूसो था। लेकिन वास्तव में इसका सबसे पहले प्रवर्त्तन अंग्रेज चिंतक हॉब्स (१५८८-१६७९) में किया था—यद्यपि अपने इतिहास-प्रसिद्ध ग्रंथ 'लेवायथन' में उसने राज्य की भूमिका और प्रभुसत्ता को अत्यधिक महत्व दिया था। हॉब्स के अनुसार, राज्य का स्वभाव, गुण-धर्म ही केन्द्रीयकरण होता है। वास्तविकता और यथार्थ की सीमाओं से कहीं परे जाकर हॉब्स अति तार्किक या नैयायिक था और इसीलिए जनतांत्रिक मध्यमवर्गीय राज्य की सैद्धान्तिक आधारशिला रखने के साथ-साथ उसकी पूरी विचारधारा में अधिनायकवाद, तानाशाही या सर्वसत्तात्मक राजप्रणाली के लिए भी पर्याप्त समर्थन मिलता है।

हॉब्स की पूरी विचारधारा की असली गड़बड़ी यह है कि मानव-स्वभाव के बारे में उसका बड़ा एकांगी दृष्टिकोण था। उसके मतानुसार चूंकि लोगों को शक्ति द्वारा ही आपस में बांधे या मिलाये रखा जा सकता है, इसलिए सरकार (राज्य) के हाथ में शक्ति होनी चाहिए। "तलवार के बिना की गयी संधियां शब्दों से अधिक कुछ नहीं होती हैं और उनकी सहायता से किसी तरह की भी सुरक्षा नहीं हो सकती है।" वह यहां तक कहता है कि "कानून से नैतिकता बनती है, न कि नैतिकता से कानून।"[1]

---

१. थामस हाब्स : एनसाइक्लोपेडिया आफ वर्ल्ड पालिटिक्स में उसके सम्पादक वाल्टर थीमर द्वारा उद्धरित : २०७

संक्षेप में, उसकी पूरी विचारधारा को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है : "जब लोग अपनी सहायता स्वयं करना छोड़ देते हैं और किसी शासक के आगे आत्मसमर्पण कर देते हैं, तब अपने अधिकार (भी) उसे सौंप देते हैं और इस प्रकार 'महान लेवायथन' के 'मरणशील अर्थात् नश्वर ईश्वर" का जन्म होता है जो शांति एवं सुरक्षा की जुम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है और यह काम समाज नहीं कर सकता है, बल्कि यह तो कोई प्रतिनिधि (व्यक्ति या समूह) ही समाज के नाम पर कर सकता है।"[३]

लेकिन फिर भी, हॉब्स ने जनतंत्र के मूल सिद्धांत अर्थात् व्यक्तिवाद अथवा व्यष्टिवाद को एकदम नहीं छूटने दिया क्योंकि 'लेवायथन' के भयकर उत्थान के बावजूद वह इस 'महा-मानव', इस सर्वसत्तासम्पन्न नश्वर ईश्वर अर्थात् राज्य को समाज अर्थात् मनुष्य की ही कृति बतलाता है। इसलिए आशा की जा सकती है कि अगर लोग उसे पैदा कर और बना सकते हैं तो वे ही उसे नष्ट कर सकते हैं।

<u>जनतंत्र से जन का निष्कासन</u> : इंगलैण्ड के ही एक अन्य चिंतक लॉक (१६३२–१७०४) ने शायद हॉब्स से प्रेरित होकर इसी विचारशैली को कुछ आगे बढ़ाया और उसके 'सामाजिक संविदा' के अप्रत्यक्ष सिद्धान्त को कुछ विकसित किया। लॉक के राज-दर्शन या राजनीतिक दर्शन की मुख्य देन थी "सत्ता के सौंपने या प्रतिनिधायन (डेलीगेशन आफ पावर) के सिद्धान्त पर आधारित प्रतिनिधि सरकार (रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट) ी योजना। इस प्रकार उसने जनतंत्र का अमानवीयकरण करके उसे एक निरे संवैधानिक या कानूनी औपचारिकता या रस्मअदाई का रूप दे दिया जिसके फलस्वरूप जनतंत्र से जन का लगभग निष्कासन हो गया और 'तंत्र' का नाटक ही अधिक महत्वपूर्ण हो गया।

जनतंत्र से जन के निष्कासन के इस 'षड़यन्त्र' को और भी मजबूत करने का श्रेय फ्रांस के दार्शनिक रूसो (१७१२–१७७८) को है। यहां पर हमें यह न भूलना चाहिए कि प्रतिनिधि सरकार के इस पूरे विचार को जनतांत्रिक

३. वाल्टर थीमर - एनसाइक्लोपैडिया आफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स · २०७

सरकार का पर्याय मान लिया गया था और ऐसा मानने का मुख्य आधार था समाज और समाज की रचना करने वाले उसके पूरक अंगों, उसके घटकों अर्थात् व्यक्तियों के बीच एक विशेष प्रकार के सम्बन्ध की धारणा। इस विशेष सम्बन्ध को सबसे पूर्णत: स्पष्ट और व्यापक रूप में रूसो ने अपने 'सामाजिक संविदा' (सोशल कान्ट्रैक्ट) और 'सामान्य इच्छा' (जेनरल विल) के दोहरे सिद्धान्त में व्यक्त किया है। इस दोहरे सिद्धान्त ने तो मनुष्य या व्यक्ति को उसके मूल, वास्तविक तथा प्रभुसत्तात्मक गुण अथवा अधिकार से ही वंचित कर दिया। और इसका कारण था व्यक्ति एवं समाज के परस्पर-सम्बन्ध को उलटा करके देखने का दृष्टिकोण। ऐतिहासिक सन्दर्भ तथा यथार्थ में जो प्राथमिकता व्यक्ति को प्राप्त थी, वह उससे छीन कर उसी के द्वारा रचित समाज या समूह को सौंप दी गयी; अर्थात् समष्टि ने अपने ही जनक व्यष्टि को मार डाला।

प्रभुसत्ता का समर्पण : और इसका परिणाम यह हुआ कि ऐसे राजनीतिक दर्शन के आधार पर जिस जनतंत्र की उत्पत्ति हुई और जिसे लोकप्रिय प्रभुसत्ता या लोक-प्रभुसत्ता (पापुलर सावरेन्टी) कहा गया और जिसके अस्तित्व का स्रोत समष्टि था, उस जनतंत्र का जन्म ही व्यक्ति या व्यष्टि की प्रभुसत्ता के आत्मसमर्पण या विनाश से हुआ था। यद्यपि रूसो ने यह तो स्वीकार किया कि प्रभुसत्ता आम जनता की है, लेकिन उसे यह अधिकार नहीं दिया कि वह उसका पूरा-पूरा, अपनी इच्छानुसार उपभोग करे, बल्कि उस पर यह अनिवार्य कर्त्तव्य थोप दिया गया कि वह उसे अपने उन नेताओं तथा शासकों को सौंप दे जिन्हें व्यक्तियों (लोगों) की इच्छाओं के ऊपर थोपी गयी काल्पनिक 'सामान्य इच्छा' (जेनरल विल) का अधिकारी मान लिया गया। वर्तमान जनतंत्र का यही वह आदि एवं सर्वप्रथम पाप था, जिसने आगे चलकर तानाशाही या समष्टिवाद का पक्ष-पोषण किया—यद्यपि आम तौर पर उसे जन या लोक-प्रभुसत्ता का आधारभूत सिद्धान्त मान लिया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रिनैसाँ आन्दोलन के मानव-वादियों ने व्यक्ति की प्रभुसत्ता और स्वतंत्रता के दावे के रूप में जिस जनतंत्र को

कल्पना की थी, उस लोकतंत्र अथवा जनतंत्र की पैदा होते ही भ्रूणहत्या कर दी गयी और स्वयं उसी के रचयिताओं तथा अभिभावकों ने ऐसी व्यवस्था की रचना की जिसमें हर कुछ वर्षों के बाद लोगों को केवल यही नहीं याद दिलाया जाता है कि सत्ता उनकी नहीं है, बल्कि औरों के हाथ सत्ता सौंप देने का अनुष्ठान भी उनसे सम्पन्न कराया जाता है।

खतरनाक 'के लिए' : आगे चलकर इस पूरी सैद्धान्तिक एवं वैचारिक स्थिति को कुछ व्यावहारिक और उपयोगितावादी राजनीतिक नेताओं ने तब और भी मजबूत बना दिया जब उन्होंने जनतंत्र की इस सूत्र में परिभाषा कर दी : "जनता का, जनता द्वारा और जनता के लिए शासन"। अब अगर न्याय-सगति के आधार पर गौर किया जाय तो हम देखते हैं कि जिस प्रकार सत्ता के प्रतिनिधायन के आधार पर बनी प्रतिनिधि सरकार यथार्थ मे जनतंत्र का निषेध अथवा खण्डन है, उसी प्रकार इस त्रिसूत्री परिभाषा का तीसरा सूत्र पहले के दो सूत्रों को निरर्थक कर देता है। जहां तक 'जनता के लिए' शासन करने का सम्बन्ध है, उसका दावा तो कोई तानाशाह, राजा, सामन्त या कोई भी शासक कर सकता है और करता भी है, ये लोग भी जनता (या प्रजा) के हितों तथा इच्छाओं के अभिभावक तथा रक्षक होने का दम भरते हैं।

शायद इसी परिभाषा की दुर्बलता तथा न्याय-दोष को महसूस करके उपयोगितावादी अंग्रेज चिंतक जॉन स्टुअर्ट मिल ने जनता अर्थात् लोगों की इच्छाओं और हितों को मापने का यह तरीका सुझाया : "अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक भलाई।" लेकिन इससे भी असली, बुनियादी मर्ज दूर नहीं हुआ क्योंकि प्राथमिकता अब भी समष्टि या समूह के पास ही रही—समष्टि छोटा हो या बड़ा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जनतांत्रिक व्यवहार या व्यावहारिक जनतंत्र की मूल समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। इसे हल करने की कोई कोशिश नहीं की गयी। और इसका कारण यह है कि प्रतिनिधियों के माध्यम से नहीं, बल्कि बिल्कुल सीधे जनतंत्र में ही यह सम्भव हो सकता है कि सरकार जनता की और जनता द्वारा हो, 'जनता के लिए' का प्रश्न ही न हो। और इस मूल समस्या को हल न कर सकने का ही यह

परिणाम है कि संकट पड़ने पर आमतौर से लोग किसी न किसी प्रकार की तानाशाही या अधिनायकवाद से ही भला होने की आशा करने लग जाते हैं और वर्तमान प्रतिनिधि शासन अर्थात् संसदीय प्रणाली का जनतंत्र संकट की चुनौती का सामना करने में असफल रह जाता है।

दलीय राजनीति

यह तो हुआ संसदीय जनतंत्र की राजनीतिक सैद्धान्तिक विचारधाराओं का संक्षिप्त लेखा-जोखा, जिसने राजशास्त्र अथवा राजनीतिक दर्शन, या साधारण भाषा में असली जनतंत्र को पनपने नहीं दिया। अब ज़रा इसके व्यावहारिक पक्ष पर भी कुछ दृष्टि डाल लेनी चाहिए, अर्थात् इस बात पर कि संसदीय अथवा रस्मी या औपचारिक जनतंत्र पर अमल कैसे होता है।

व्यवहार रूप में इस चालू ढंग के जनतंत्र में सबसे विशेष एवं महत्वपूर्ण चीज़ है राजनीतिक दलों या पार्टियों की भूमिका जो अपने को जनता के हितों का रक्षक, अभिभावक, उनका प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं और इस प्रकार लोक प्रभुसत्ता हड़प लेते हैं। दलों की इस भूमिका से जनतांत्रिक व्यवहार की मूल समस्या कुछ और पेचीदा हो जाती है। जहां तक साधारण प्रतिनिधि व्यवस्था का सम्बन्ध था, उसमें कम से कम सिद्धान्त-रूप में ही सही जनता का संसद या विधायिका के माध्यम से सरकार पर कुछ हक, कुछ नियंत्रण तो था ही। अर्थात् कम से काम नाम के लिए तो जनतंत्र था, लेकिन दलों के आविर्भाव से जनता और सरकार के बीच, शासित प्रजा और शासक नेताओं के बीच का फ़ासला और भी अधिक हो जाता है क्योंकि एक तो जनता का सरकार में प्रतिनिधित्व इन दलों के द्वारा ही हो सकता है और दूसरे, दलों द्वारा नियंत्रित एवं शासित सरकार आम जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होती।

इस संसदीय जनतंत्र में दलों के व्यवहार-व्यापार का सबसे दुखद पक्ष यह है कि प्रतिनिधित्व का प्रत्याशी मतदाताओं अर्थात् आम जनता के पास सबसे अंत में जाता है, जबकि इसके काफी पहले से उसकी चुनाव-प्रक्रिया शुरू

हो चुकी होती है। इस लम्बी प्रक्रिया के सबसे आरम्भ में दल की नेता-मण्डली अपने तमाम इने-गिने विश्वसनीय, भरोसे के, वफादार और दल की नीति पर अन्धविश्वास करने वाले सदस्यों में से प्रत्याशी का चुनाव करती है, फिर सरकारी दफ्तर में उसकी नामजदगी आदि होती है, इत्यादि-इत्यादि। और सबसे अन्त में मतदाताओं के सम्मुख जाकर उसे चुनने के लिए कहा जाता है।

स्पष्ट है कि इस पूरी प्रक्रिया में पूरे जनतांत्रिक व्यवहार को उल्टा कर दिया जाता है।—बजाय इसके कि मतदाता अर्थात् जनता अपने भरोसे का आदमी स्वयं चुने और उससे कहे कि 'हमारा वोट लो और हमारा प्रतिनिधित्व करो', होता यह है कि दलीय व्यक्ति पहले दल के नेता-गुट से अपने को चुनवाता है और फिर झोली फैला-फैला कर भीख मांगता है कि 'वोट दो, वोट दो'। अर्थात् वोट लिये जाते है, दिये नहीं जाते। प्रतिनिधित्व थोपा जाता है, स्वाभाविक नहीं होता है। उम्मीदवार जनता का अपना आदमी नहीं, बल्कि बाहर का होता है। और जब वह चुन जाता है तो उसका उत्तरदायित्व जनता (मतदाता) के प्रति न होकर अपने दल के प्रति होता है। जन-प्रतिनिधित्व का लाख दावा करने पर भी, सिद्धान्तरूप में भी जनता का उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रहता है। वह विधायिका में चाहे जो स्याह-सफेद करे, मतदाता से कोई सरोकार नहीं। और इस प्रकार तंत्र का मूल आधार ही खत्म कर दिया जाता है और पूरी चुनाव प्रक्रिया एक नाटक से अधिक कुछ नहीं रह जाती।

सत्ता की राजनीति

इसके अलावा अपने तमाम ऊंचे-ऊंचे आदर्शों, सिद्धान्तों, नीतियों, वायदों, कार्यक्रमों आदि के बावजूद हर राजनीतिक दल के तमाम कार्यों का मुख्य लक्ष्य संसद या विधान मंडल में बहुमत प्राप्त करना और इस बहुमत के बूते पर सरकार बनाना या उस पर नियंत्रण रखना ही होता है। इससे स्थिति और भी बिगड़ जाती है क्योंकि 'सत्ता हथियाने' के अपने तात्कालिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हर दल हर सम्भव साधन का इस्तेमाल करने के लिए

तैयार रहता है। इस प्रकार के साधनों तथा उपायों में धार्मिक, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, जातीय, अन्धविश्वासी, अलगाववादी, वर्णभेदी, अतीत की गौरव-गाथाओं, विदेशों का सच्चा-झूठा भय एवं घृणा आदि तरह-तरह के भावनात्मक और जोशीले नारों, वक्तव्यों तथा भाषणों आदि का सहारा लिया जाना शामिल होता है।

इस सब का परिणाम यह होता है कि सत्ता हथियाने के इस संघर्ष में, सरकार पर नियंत्रण पाने की इस छीना-झपटी में, शुद्ध और वास्तविक जनतांत्रिक व्यवहार छोड़ कर, हर चीज़ को खुल कर खेलने का मौका मिलता है। ऐसे माहौल में और इस प्रकार की राजनीति में यदि कोई व्यक्ति नैतिक मूल्यों की बात उठाता है, तो किसी हद तक उसे मूर्ख ही कहा जायेगा।

इस सम्बंध में एक बात हमें नहीं भूलनी चाहिए। ये दल, इनके नेतागण और इनके सैकड़ों-हज़ारों समर्थक कोई मूलतः भ्रष्ट, बदमाश या धोखेबाज़ नहीं होते हैं। हर दल का कोई न कोई व्यापक समाज-दर्शन होता है और इसे व्यावहारिक रूप देने के लिए एक कार्यक्रम। हर दल का यह विश्वास भी होता है कि आम जनता की भलाई इसी समाज-दर्शन तथा कार्यक्रम से हो सकती है। और अगर इस कार्यक्रम को अमल में लाना है तो इस पर विश्वास करने वाले दल के हाथ में सत्ता होनी चाहिए। इसीलिए हर दल की अपने सिद्धांतों तथा कार्यक्रम के प्रति ईमानदारी का तकाज़ा होता है कि राजसत्ता प्राप्त की जाय। इसके अतिरिक्त किसी भी समाज-दर्शन और उसके कार्यक्रम पर केवल कुछ इने-गिने वर्षों में—किसी कारण भी—पूरी तरह से अमल नहीं किया जा सकता है, अर्थात् उनके अनुसार सामाजिक परिवर्तन पूरे नहीं किये जा सकते हैं, इसलिए यदि किसी दल के हाथ में एक बार राजसत्ता आ गयी तो फिर बार-बार आनी चाहिए।

अतः यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आज के राजनीतिक वातावरण में जो तरह-तरह की खराबियां हैं, उनकी असली जड़ें इस संसदीय लोकतंत्र की शासन प्रणाली, इस प्रणाली में राजनीतिक दलों की भूमिका और इन दलों की सत्ता-केन्द्रित राजनीति, में हैं।

अतः चाहे सिद्धांत-रूप में देखा जाय चाहे व्यवहार-रूप में, वर्तमान संसदीय लोकतंत्र, वास्तव में जनतंत्र का खण्डन और नकारी रूप है जिसमें जनतंत्र की आधारभूत शर्तों का ही अभाव रहता है, जिसमें जनता की प्रभुसत्ता ही छीन कर दलों के नाम से संगठित पेशेवर राजनीतिक कार्यकर्ताओं के किसी समूह के अनुत्तरदायी हाथों में सौंप दी जाती है। ऐसी हालत में संसदीय अथवा प्रतिनिधि सरकार एक अल्पमतीय शासन से अधिक कुछ नहीं होती, क्योंकि कितना ही बड़ा क्यों न हो, फिर भी दल पूरे समाज का एक अंश ही तो होता है। और चूंकि आम जनता का उस पर कोई नियंत्रण नहीं होता है और हर दल का लक्ष्य सत्ता हथियाना या सत्तारूढ़ होकर उसे हथियाये रखना होता है, इसलिए ऐसी लोकतांत्रिक सरकार कभी भी तानाशाही का रूप ले सकती है। जर्मनी में नाजियों की तानाशाही, चेकोस्लोवेकिया में कम्युनिस्टों की तानाशाही इसी तरह से स्थापित हुई थी। भारत में १९७५ में इन्दिरा गांधी ने इसका काफी सफल प्रयोग किया—वह स्थायी नहीं सिद्ध हुई, यह और बात है।

मानववादी राजनीति

जनतंत्र के सैद्धान्तिक इतिहास के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण के पश्चात् अपनी मूल समस्या पर हमें फिर लौट आना चाहिए। जैसे पहले संकेत किया जा चुका है, जनतंत्र की पूरी विचारधारा का निचोड़ है कि सत्ता अधिक से अधिक विस्तृत तथा प्रसारित हो,' किसी एक जगह, एक दल अथवा एक व्यक्ति के हाथ में इकट्ठी न हो, केन्द्रित न हो, क्योंकि ऐसा हो जाने से ही तानाशाही और निरंकुश शासन की स्थापना होती है—भले ही इसे शब्दाडम्बरों, संकटकालीन खतरों के भय और रस्मी फर्जअदाइयों के कलेवर से क्यों न ढके रखा जाय। चुनाव द्वारा जनता अपनी सत्ता किसी दल को सौंप देती है; दल इस सत्ता को अपने कुछ चुने हुए सदस्यों के सुपुर्द कर देती है और फिर वे निर्वाचित-नामजद सदस्य अनुशासन के नाम पर उस सत्ता को उन लोगों को सुपुर्द कर देते हैं, जो सरकार के मंत्रीगण होते हैं, जो सरकार बनाते और चलाते हैं। इस प्रकार, संसदीय जनतंत्र उदार तानाशाही हो सकता

है जो कल्याणकारी राज्य (वेलफेयर स्टेट) की दुहाई देकर समाज के आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को एक ढांचे में ढालेगा। कोई भी सरकार या दल अपनी गलतियों या कमजोरियों को खुल्लम-खुल्ला स्वीकार नही करता और न यह कहता है कि उसकी नीति तथा कार्यक्रम से देश को हानि पहुंची है। अनैतिक तथा भ्रष्ट साधनों पर आधारित व्यवस्था में बेईमानो तथा अनैतिक लोगों का मुकाबला करने के लिए उन्ही का ऐसा बनना और करना पड़ता है, वरना सफलता नही मिलती है। इसलिए वातावरण के कुप्रभावों से कोई भी नहीं बच पाता है। फलत: झूठ का, लफ्फाजी का, हर कल्पित वायदे का तथा दूसरे से अपने को अच्छा और दूसरे को अपने से बुरा बतलाने का बाजार गरम रहता है और ईमानदार लोग अपने को इससे दूर रखते हैं।

लेकिन जैसा हम कह चुके है, राजनीति एक सामाजिक आवश्यकता है और शासन के जितने भी रूप तरीके हमने अब तक अपनाये हैं या देखे-सुने हैं, उन सबमें जनतांत्रिक शासन प्रणाली ही सबसे अच्छी पायी गयी है—कम से कम सिद्धांत रूप में। इसीलिए राजनीति से दूर अथवा उदासीन रहने की बजाय जरूरत इस बात की है कि जनतंत्र की मूल भावना को वास्तविकता का रूप दिया जाय।

जनतंत्र की मूल भावना की पुन: प्रतिष्ठा के लिए मानववादी को वैज्ञानिक की तरह बिल्कुल शुरू से अपना काम आरम्भ करना होगा। अर्थात् राजनीतिक दर्शन की मूल समस्या व्यक्ति और राज्य के परस्पर-सम्बंधों की पुरानी समस्या पर अपने इच्छित विश्वासों, अनुमानो तथा कल्पनाओं को दूर रख कर यथार्थ रूप में विचार करना होगा—ऐतिहासिक और मानव विज्ञान के अनुसन्धानों तथा खोजों से अर्जित तथ्यों के आधार पर। व्यक्ति और राज्य के वास्तविक परस्पर-सम्बंध के लिए इन दोनों के बीच की सम्पर्क इकाई के रूप में समाज पर भी विचार करना होगा क्योंकि—जैसा हम पहले कह चुके है, राज्य भी एक विशेष प्रकार की सामाजिक संस्था है। अर्थात्, व्यक्ति तथा

गया—यद्यपि व्यवहार में वह मानव से पूर्व वाली अवस्था के ही निकट था, अर्थात् अवमानव (सबह्यूमन) ही था—तब से मानव जीवन के प्रयोजन के संकेत मिलने लगते हैं।

मानव-से-पूर्व के जैविक विकास की सबसे प्रमुख विशेषता, बल्कि चालक अथवा प्रेरक शक्ति, होती है 'जीवन संघर्ष' (स्ट्रगिल फॉर एक्ज़िस्टेन्स) और इस संघर्ष का व्यवहार-रूप है यांत्रिक समायोजन या अनुकूलन (मेकैनिकल ऐडजस्टमेन्ट) और प्राकृतिक या नैसर्गिक वरण (नेचुरल सेलेक्शन)। लेकिन जब यही मानव-से-पूर्व जीवधारी अर्थात् उच्चतम पशु इसी जीवन-संघर्ष के दौरान अपनी सीमाओं को पार करके मानव शरीर की अवस्था प्राप्त कर लेता है, अर्थात् आधुनिक मानव का बिलकुल आदि रूप ले लेता है, तब उसमें इच्छा और बुद्धि ऐसे मानवीय गुण-धर्म भी प्रकट होने लगते हैं। और अब जीवन-संघर्ष का स्तर भी कुछ ऊंचा हो जाता है और पहले की अपेक्षा इस संघर्ष के व्यवहार रूप में गुणात्मक भिन्नता आ जाती है जिसके फलस्वरूप यांत्रिक अनुकूलन की जगह सोच-समझ, सूझ-बूझ और प्रयोजन ले लेते हैं। अब मानव-व्यवहार के पीछे मानव की कोई जरूरत, उसे पूरा करने की इच्छा और सही या गलत तरीकों की पहचान भी होती है।

इस मानवीय व्यवहार का भी एक विकासक्रम था और अपनी उच्चतर अवस्था अर्थात उच्चतर मानवीय स्तर प्राप्त करने तक न जाने कितने लम्बे काल तक उस मानव-रूपी पशु को अवमानव के रूप में अपना संघर्ष चलाना पडा। अंततोगत्वा, उच्चतर मानवीय स्तर पर पहुंच जाने पर उसी संघर्ष ने स्वतंत्रता के लिए सचेतन संघर्ष का रूप ले लिया जिसकी प्रेरणा का हर मनुष्य मे होना अनिवार्य है। इस सचेतन संघर्ष अर्थात् विशुद्ध मानवीय प्रयत्नों के दो पक्ष थे—सकारात्मक और नकारात्मक सहयोग—जिनके फलस्वरूप समाज बना।

<u>नकारात्मक सहयोग</u> : जंगलों में रहने वाले हमारे पूर्वज मानव को केवल भयंकर जंगली, खूंख्वार जानवरों से ही नहीं, बल्कि अनेकानेक प्राकृतिक अवरोधों के विरुद्ध भी लड़ना पडा। चूंकि इस अवस्था मे जबकि अन्य पशुओं

की अपेक्षा उसका शरीर छोटा तथा दुर्बल था, लेकिन उसका मस्तिष्क और शारीरिक प्रक्रिया का ढांचा उनसे काफी भिन्न था, इसलिए अब यांत्रिक अनुकूलन एवं नैसर्गिक वरण के उपायों से वह काम नहीं ले सकता था और न इनसे उसे सफलता की ही आशा थी। और उसे अपने को---अपनी नवोदित मानव-जाति को---मिटने से बचाने के लिए अर्थात् इस भयंकर खतरे से मुक्ति अथवा स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए सहयोग-सहकार का रास्ता अपना कर समाज की रचना करनी पड़ी।

सकारात्मक सहयोग : इसी के साथ-साथ, हमारे आदिम मानव पूर्वज अब अपने पशु पूर्वजों से काफी अधिक भिन्न हो गये थे— उनकी जीवन-शैली ही अलग थी, उन्हें भिन्न प्रकार की भोजन सामग्री चाहिए थी, इस सामग्री को जुटाने के दूसरे ही तरीके थे, रहने के लिए भी भिन्न व्यवस्था की जरूरत थी, बच्चों के प्रजनन एवं पालन-पोषण की और अन्य पारिवारिक समस्याएं भी अलग प्रकार की थीं। इन सबके लिए---पहले शिकार, फिर मछवाही और फिर खेती-बाड़ी---उन्हें सहयोग-सहकार की अपरिहार्य आवश्यकता थी, जिसे पूरी करके मानव-जाति जिंदा ही नहीं रह सकी, बल्कि उत्तरोत्तर उन्नति करके आधुनिक समाज का रूप भी ले सकी। यह हुआ सचेतन संघर्ष अर्थात् मानवीय सहयोग का सकारात्मक पक्ष।

अतः प्राथमिकता व्यक्ति (या व्यक्तियों) की है क्योंकि इन्हीं के अपने शारीरिक---और साथ-साथ में मानसिक भी---विकास की लम्बी प्रक्रिया के दौरान, शायद नैसर्गिक वरण और यंत्रवत् सहज मानवीय व्यवहार के तौर पर व्यक्ति-व्यक्ति की आवश्यकता---जीवन के प्रयोजन---की पूर्ति के लिए या पूर्ति होने की प्रक्रिया के दौरान समाज की रचना होती गयी या हुई थी। इसी चीज को हम दूसरे शब्दों में यूं कह सकते हैं कि मानव-विज्ञान के अध्ययन के अनुसार समाज की उत्पत्ति आदिम वन्य मानव के उस परस्पर---सहयोगी व्यवहार के दौरान हुई जिसकी बदौलत वह अपना जीवन-संघर्ष सफलतापूर्वक चला सका और इस प्रकार मनुष्य समाज की रचना हुई। अर्थात, समाज व्यक्ति

के लिए बना, न कि व्यक्ति समाज के लिए। और यह एक अनुभवसिद्ध एवं ऐतिहासिक तथ्य है।

व्यक्ति और राज्य :[४] व्यक्ति और समाज के सम्बंध के इस उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय के पश्चात अगर हम व्यक्ति और राज्य के मूल विषय पर विचार करें तो देखेंगे कि चूंकि राज्य मानव समाज के किसी एक भाग अर्थात् समुदाय का राजनीतिक संगठन है, इसलिए उसका व्यक्ति से जो सम्बंध है वह उसी पुराने व्यक्ति और समाज के बीच के सम्बंध का अगला भाग है। यह व्यक्ति-राज्य सम्बंध तो उपर्युक्त व्यक्ति-समाज सम्बन्ध के अनुभवसिद्ध एवं ऐतिहासिक तथ्य का न्यायसगत परिणाम है। मानव समाज या समुदाय का एक राजनीतिक संगठन होने के नाते राज्य भी मनुष्य की रचना है और उसे इसकी मातहती स्वीकार करनी चाहिए।

अब अगर व्यक्ति-समाज के सम्बंध की तरह व्यक्ति-राज्य सम्बंध की ऐतिहासिक जांच करें तो पता चलेगा कि आरम्भ में बनने वाले अर्थात् आदिम राज्य की बुनियाद न तो किसी सामाजिक समझौते या संविदा की तहत और न कुछ लोगों के गुट या दल या वर्ग द्वारा पूरे समाज को डराने-दबाने या शोषण करने के लिए ही डाली गयी थी। इसकी रचना या इसका निर्माण किसी ने किया नहीं, बल्कि यह तो एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया थी जो तमाम समुदाय (या समाज) की सुरक्षा और सब लोगों के समान हित के अर्थात् सार्वजनिक मामलों के प्रबंध-प्रशासन के लिए लगभग यंत्रवत् अस्तित्व में आयी। लेकिन कालान्तर में जो लोग अन्यों की अपेक्षा शारीरिक तथा बौद्धिक दोनों दृष्टियों से अधिक योग्य, विकसित, प्रभावशाली भी थे, उनके हाथ में पूरे समुदाय का नेतृत्व आता गया। ऐसा होना स्वाभाविक भी था।

इन्हीं लोगों को, सामूहिक रूप से, 'आदिम राज्य' की संज्ञा दी जा सकती है जिसकी जुम्मेदारी थी सुरक्षा अर्थात् सैनिक मामले और सार्वजनिक नागरिक प्रशासन। फिर यह सिलसिला बढ़ता ही गया और कालान्तर में कुछ

४. १९४९ में हुए इन्डियन रिनैसां इन्स्टीटयूट के शिविर के पाठ्यक्रम के आधार पर।

विशेष शासक वंश और वर्ग बन गये—राज और शासन करना जिनकी बपौती बन गयी, खान्दानी पेशा हो गया, दैवी अधिकार हो गया।

प्रभुसत्ता का असली ठौर : व्यक्ति

और इसी बपौती, पेशा और अधिकार को चुनौती देने के लिए जनतंत्र की विचारधारा और इससे सम्बंधित भिन्न-भिन्न राजनीतिक दर्शनों एवं सिद्धांतों का उदय हुआ। जनतंत्र का वास्तविक अर्थ यह है कि चूंकि राज्य को मनुष्य (व्यक्ति) ने पैदा किया है, इसलिए उसे इसका हक नहीं है कि वह व्यक्ति (अर्थात् जनता) से अपनी अधीनता या मातहती की मांग करे। इसी के साथ-साथ जनतंत्र का यह भी अर्थ है कि राज्य पर सामान्य नागरिकों—व्यक्तियों का नियंत्रण होना चाहिए ताकि लोगों की वैयक्तिक या निजी स्वतंत्रता की रक्षा और सार्वजनिक कल्याण कार्यों की वृद्धि की जुम्मेदारी वह (राज्य) पूरी कर सके। अतः जनतंत्र का मूल मंत्र यह रहा है कि राज्य को बनाने वाले एक एक घटक, अर्थात् व्यक्ति व्यक्ति में प्रभुसत्ता निवास करती है; अर्थात् 'व्यक्ति की स्वतंत्रता या प्रभुसत्ता' ही जनतंत्र का सार है।

लेकिन आज तक जितने भी सामाजिक अथवा राजनीतिक दर्शन हमारे सामने आये हैं, वे समाज को एक समूह, एक समष्टि के रूप में ही देखते हैं। कोई समुदाय धर्म के आधार पर, तो कोई राष्ट्रीयता पर, तो कोई आर्थिक वर्ग पर। किंतु मनुष्य के रूप में मनुष्य का मूल्यांकन कोई भी नहीं करता है। लेकिन केवल निराशा से तो काम चलने का नहीं, और वैज्ञानिक मानववादी राजनीति इसी निराशा को खत्म करने का एक प्रयास है, जिसके अनुसार जनतंत्र का आधार है व्यक्ति की प्रभुसत्ता। यह प्रभुसत्ता अभिन्न है, अखण्ड है, अविभाज्य है। लेकिन आज वह खण्डित हो गयी है, विभाजित हो गयी और धीरे-धीरे दलों ने इसे हथिया कर व्यक्ति को सत्ताहीन कर दिया है।

अतः राजनीति को शुद्ध करने के लिए हमें व्यक्ति के हाथ में उसकी प्रभुसत्ता सौंपनी पड़ेगी, और इसके लिए दलबन्दी की प्रथा को समाप्त करना पड़ेगा। हमें एक ऐसा संविधान चाहिए जिसमें वास्तविक सत्ता उसकी असली

अधिकारिणी जनता के हाथ में हो और जिसमें जनता सहकारी तथा सहयोगी ढंग से प्रशासन पर सक्रिय नियंत्रण रखे और प्रतिनिधियों के सहारे नहीं बल्कि स्वयं ही अपने दैनिक व्यवहार का संचालन करे।

सत्ता स्वयं में ही कोई बुरी चीज़ नहीं होती है। सत्ता के लिए साधारण भाषा में शक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ मूलत: क्षमता या योग्यता होता है जिससे कोई कार्य सम्पन्न होता या किया जाता है। इस-लिए किसी भी व्यावहारिक योजना अथवा कार्यक्रम में इसका होना आवश्यक है। जब यह योग्यता केवल कुछ व्यक्तियों अथवा दलों में केन्द्रित हो जाती है और शेष जनता इसके उपयोग से वंचित रह जाती है, तभी कहा जाता है कि इसका दुरुपयोग हो रहा है।

राज्य के बारे में हमारी उपर्युक्त विचारधारा के अलावा भी अनेक विचार हैं। कोई कहता है कि यह तो समाज पर आतंक करने का एक यंत्र है और इसके रहते हुए स्वच्छ सामाजिक व्यवस्था होना असम्भव है। अत: धीरे धीरे राज्य को दुर्बल तथा अंत में पूर्ण रूप से खत्म हो जाना चाहिए। इसी को कुछ लोग राज्यहीन समाज की कल्पना भी कहते हैं। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि यद्यपि समाज में एक दूसरे से भिन्न, और विरोधी भी, विचारों तथा हितों के वर्ग होते अवश्य हैं लेकिन, जैसा हम पिछले पृष्ठों में देख चुके है, समाज की मूल प्रवर्तक एवं प्रेरक शक्ति या शक्तियां सहकार तथा सहयोग की ही हैं। और फिर, एक बात ध्यान में बराबर रखनी चाहिए कि हर भिन्न चीज़ या शक्ति अनिवार्यत: विरोधी ही नहीं होती ; समानता और विरोध, मित्रता और शत्रुता के बीच मे न जाने कितने प्रकार के और भी सम्बंध होते है। सहयोगी, भिन्न और विरोधी, तीनों प्रकार की प्रवृत्तियां एवं शक्तियां समाज में स्वाभाविक रूप से होती हैं। केवल विरोधी ही होतीं तो सभ्यता एवं संस्कृति का कब का अंत हो गया होता— बल्कि समाज बना ही न होता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ, अलग-अलग व्यक्तियों ने मिलकर समाज को बनाया और बढ़ाया और यह सहयोगी शक्तियों का ही प्रमाण है।

आदर्श राज्य वह है जिसमें परस्पर-विरोधी शक्तियां न रह जायं और सम्पूर्ण समाज एक दिशा में, एक पथ पर परस्पर सहकारिता तथा सहयोग की भावना से प्रेरित होकर आगे बढ़ें। ऐसी दशा में समाज में संगठन और संस्थाएं तो अनेक होंगी, लेकिन अपने-अपने क्षेत्र में सब स्वतंत्र। राज्य भी इन्हीं में से एक सामाजिक संस्था होगा, जिसका मुख्य कार्य इन तमाम स्वतन्त्र संस्थाओं के बीच में समन्वय स्थापित करना तथा उनके कार्यों में ताल-मेल क़ायम करना होगा। इसी प्रकार आदर्श समाज वह है जिसमें उसके अनेकानेक अंग अपने में स्वतंत्र हों, अपने-अपने क्षेत्र—शिक्षा, संस्कृति, उद्योग, व्यापार, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, कृषि आदि—में उनका अपना अपना स्वतन्त्र शासन हो। राज्य भी इन्हीं में से एक, अर्थात् राजनीतिक, हो और केवल शांति एवं सुरक्षा के अतिरिक्त बहु-संस्थाई समाज की अनेक संस्थाओं में सामंजस्य स्थापित रखे। सबसे अच्छी सरकार वह है, जो कम से कम राज करे।

अब तक का इतिहास एक ग़लत दिशा में बढ़ता आया है, सत्ता केन्द्रित होती गयी, राज्य सर्वशक्तिशाली होता गया, जनता और समाज के लगभग सभी अंग नपुंसक होते गये और इस प्रकार निरंकुशता का—चाहे वह हिंसात्मक हो चाहे अहिंसात्मक—दौरदौरा बढ़ता गया, आर्थिक-औद्योगिक जीवन भी केन्द्रित होता गया, शिक्षा, संस्कृति और मामूली से मामूली सामाजिक तथा व्यक्तिगत कार्य भी राज्य के और उसे चलाने वाली सरकार तथा सरकारी दल के अंतर्गत होते चले गये। क्या आज के आधुनिक वैज्ञानिक समाज की आर्थिक-औद्योगिक व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है? और क्या इसके फलस्वरूप राजनीतिक सत्ता को केन्द्रीकरण से रोका जा सकता है? आज की ये मुख्य समस्याएं हैं। अगर समाज को बचाना है तो इन दोनों चीज़ों को रोकना पड़ेगा और एक ऐसे राजनीतिक व्यवहार की खोज करनी पड़ेगी जिसमें दलों का हस्तक्षेप न हो क्योंकि, जैसा हमने ऊपर देखा है, तमाम मुसीबत की जड़ यही रही है।

सत्ता के मनोवांछित विकेन्द्रीकरण के लिए यह आवश्यक है कि इसे

पैदा करने तथा बल देने वाला अस्त्र ही खत्म कर दिया जाय। और साथ-साथ में एक नया अस्त्र तैयार किया जाय।

विकेन्द्रीकरण

राजनीति को भ्रष्ट होने से बचाने के लिए हमें इसे सत्ता-लोलुपता से मुक्त कराना होगा। इस बात की गारन्टी होनी चाहिए कि सत्ता अथवा शक्ति का पूर्णरूपेण वितरण अर्थात् विकेन्द्रीकरण हो। हर व्यक्ति को उसके अपने सामाजिक तथा राजनीतिक व्यक्तित्व के प्रति सजग बनाया जाय और नये जनतंत्र का भवन ऊपर से नहीं बल्कि नीचे से बनाना शुरू किया जाय। अभी तक आम तौर पर जो भी कार्य या योजना शुरू होती है, उसका श्रीगणेश ऊपर से—पहले अखिल राष्ट्रीय, फिर प्रादेशिक, फिर जिला, फिर तहसील और अंत में गांव या मुहल्ला—होता है। इसकी बजाय, नीचे से नीचे की इकाइयों—एक-एक व्यक्ति—को पहले अपनी सत्ता के प्रति जागरुक किया जाय। जब यह कार्य हो जायेगा तो इसी क्रम के भीतर ही भीतर सत्ता का वितरण अर्थात् विकेन्द्रीकरण स्वयं होने लगेगा। फलतः ऊपर का वर्तमान ढांचा स्वयं ही खोखला तथा जर्जर होता जायेगा। नीचे की स्थानीय संस्थाएं जब स्वचलित होने लगेंगी, तो केन्द्रीय राज्य के पास काम भी अधिक नहीं रह जायेगा और वह केवल विभिन्न संस्थाओं में समन्वय ही स्थापित करायेगा। अभी तक सत्ता छीनने तथा कुछ इनेगिनों के हाथ में केन्द्रित करने का यह सिर्फ एक बहाना होता है कि आम व्यक्ति स्वयं अपने लिए नहीं सोच सकता है। जिस दिन इस बहाने को झूठा साबित कर दिया जायेगा, उसी दिन इन इनेगिनों के धोखे का बाजार भी खत्म हो जायेगा। दल ही जनता को सोचने से रोकते हैं। जब ये खत्म हो जायेंगे, तब वह स्वयं सोचेगी या फिर जब वह स्वयं सोचने लगेगी तो दलों का अस्तित्व स्वयं ही नष्ट हो जायेगा।

आधुनिक विज्ञान सिखलाता है, और जैसा हम बहुत पहले बतला चुके हैं, मानव का स्वभाव किसी चीज़ पर विश्वास कर लेना नहीं, बल्कि उस पर शंका करना और उसके विषय में जांच-पड़ताल तथा छान-बीन करना है। यही उसकी विवेक शक्ति है। काफी लम्बे समय से राजनीति तथा के

प्रचलित रूपों ने उसकी इस नैसर्गिक विवेकशीलता को दबा दिया है, वह मानव-मन एवं चित्त की अचेतन अवस्था में दब गयी है। वास्तविक जनतंत्र की बुनियाद रखने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति की इसी विवेकशीलता को पुनः उठाकर चेतन अवस्था में लाना पड़ेगा।

इस कार्य को पूरा करने के लिए कुछ लोगों को, जो वैज्ञानिक मानववादी समाज दर्शन को सही समझते हैं, सत्ता तथा शक्ति के मोह को छोड़, राजनीति के इस जर्जर खखड़े से दूर रह कर जनता को स ग सत्तापूर्ण प्रभुतासम्पन्न नागरिक की भांति वोट देने, प्रशासन मे सक्रिय भाग लेने और अपने क्षेत्रीय तथा स्थानीय शासन को स्वयं चलाने की शिक्षा देनी पड़ेगी, स्थानीय आधार तथा माडेल पर अखिल राष्ट्रीय और फिर अंत में अन्तर्राष्ट्रीय भी—ढांचा खड़ा करने का आन्दोलन करना पड़ेगा।

लोक अथवा जन समितिया

और इस प्रकार की शिक्षा कोई सरकार, राजनीतिक दल या परम्परागत समाजार्थिक मूल्यों तथा विचारधाराओं को मानने वाले लोग नहीं दे सकते, क्योंकि इसके फलस्वरूप विकसित जागरूक, चेतन तथा स्वतंत्र विवेकशील व्यक्ति तो स्वय उन्हीं के अस्तित्व के लिए खतरनाक होते है। ऐसी शिक्षा को हम मानववादी समन्वित शिक्षा (इनटिग्रल एजूकेशन) कह सकते हैं और इसी के परिणाम स्वरूप समाज में जो एक व्यापक नवजागरण का माहौल पैदा होगा उसी माहौल मे ऐसे वास्तविक और सीधे जनतंत्र की स्थापना की सम्भावना अधिक बलवती होगी जो अभी तक के प्रचलित जनतंत्र के दोषो से मुक्त होगा।

इसमें कोई शक नहीं कि ऐसी बौद्धिक जाग्रति के माहौल में ही इस सीधे एवं संगठित जनतंत्र (डायरेक्ट ऐन्ड आर्गनाइज्ड डेमोक्रैसी) के आरम्भिक प्रयोग अपेक्षतः कम आबादी वाले छोटे क्षेत्र में आसानी से किये जा सकते हैं। लेकिन ऐसे प्रयोग के लिए इस शर्त का पूरी होना जरूरी है कि वहा के लोगों में स्वयं समझने-बूझने की क्षमता हो. और योग्य से योग्य तथा बड़े से

बड़े कहे जाने वालों के भी मुकाबले में अपने विवेक पर दृढ़ विश्वास हो। "ये लोग स्थानीय स्तर पर जन समितियों में अपने को संगठित स्थानीय गणतंत्र के रूप में कार्य कर सकते हैं, जहां स्थानीय गणतंत्रों की तरह के सीधे जनतंत्र की स्थापना सम्भव है। फिर जब आम चुनाव का समय आयेगा तो इन लोगों को किसी बाहरी आदमी को वोट नहीं देना पड़ेगा और न उन्हें किसी ऐसे उम्मीदवार के गुण-दोषों के बारे में विचार-विमर्श करना होगा जिसे इनके सामने स्वयं उसी के या उसके कुछ साथियों द्वारा पेश किया जायेगा। वे लोग स्वयं अपने में से ही किसी को चुनाव के लिए नामजद कर देंगे। ऐसी स्थिति पैदा करना ही सब से महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य है।

"इस काम के लिए हमें चुनाव का इन्तजार करने की जरूरत नहीं है। हम (आज ही) कोई एक चुनाव क्षेत्र चुन सकते हैं। वहां बीस-पच्चीस व्यक्ति तो ऐसे होंगे ही जो वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट होने के कारण किसी भिन्न प्रकार के राजनीतिक आचरण की जरूरत महसूस करते हों। ये २०—२५ लोग प्रयोग करना तय करते हैं और लोगों के बीच शिक्षा-प्रसार कर-कर के जनतंत्र के लिए (पूर्व लिखित) आवश्यक परिस्थिति और माहौल की तैयारी से अपना काम शुरू कर देते हैं। कुछ समय बाद, पूरे चुनाव-क्षेत्र में जगह-जगह वहां के लोगों के सम्मेलनों या सभाओं का आयोजन किया जा सकता है और वहीं से पूरे क्षेत्र के एक वृहद सम्मेलन के लिए प्रतिनिधि (डेलीगेट) चुने जा सकते हैं। और चुनाव के समय, जब सभी दल मैदान में आते हैं और अपने-अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं, तब हमारी जन समिति—जो उस वृहद सम्मेलन में बन जानी चाहिए—यह तय कर सकती है कि उन दलीय उम्मीदवारों में से किसी का भी समर्थन न करके अपने लोगों में से ही किसी को अपने उम्मीदवार के रूप में खड़ा किया जाय और आम लोग अर्थात् जनता का वोट उसी को मिले। जो व्यक्ति इस प्रकार चुना जायेगा और संसद (या विधान सभा) में जायेगा, वह किसी भी चालू राजनीतिक दल के संगठन के प्रति उत्तरदायी नहीं होगा। वह तो उत्तरदायी होगा और रहेगा अपने उस स्थानीय जनतंत्र के प्रति जिसका वह स्वयं भी अंग है; वह सीधे-सीधे उस जनता के प्रति उत्तर-

दायी होगा जिन्होंने उसे संसद (या विधान सभा) में भेजा होगा; उसे किसी बाहरी सत्ता या प्रभाव के अनुशासन या आदेशों पर नहीं चलना होगा। उसे तो अपने क्षेत्र के नागरिकों को अपने तमाम कामों की रिपोर्ट देनी होगी और उन्हें उस क्षेत्र की ही नहीं बल्कि व्यापक समाज की समस्याओं से भी पूर्णतः अवगत करा कर सब मामलों पर उनका फैसला तथा आदेश प्राप्त करना और अपनी योग्यता तथा विवेक के अनुसार उसे पूरा करना होगा।

"इसी आधार पर एक सम्पूर्ण संवैधानिक रूपरेखा की कल्पना की जा सकती है जिसके अन्तर्गत कुछ विशेष संवैधानिक अधिकारों से सम्पन्न लोक समितियाँ राज्य की पूरक इकाइयाँ बन जायेंगी। इस प्रकार, एक आभास प्रभुसत्ता भोगने वाले बौने और असहाय व्यक्तियों की बजाय, व्यक्तिगत रूप से भाग लेते हुए व्यक्तियों के अन्य समूह भी अपने-अपने क्षेत्रों में अपनी-अपनी समस्याओं तथा सामान्य मामलों पर विचार विमर्श करेंगे तथा अपनी आवश्यकताओं के अनुसार योजनाएं बनायेंगे। और इन्हीं सब क्षेत्रों से मिलकर तो देश बनता है जिसके प्रशासन के लिए वे स्वयं अपने को उत्तरदायी समझेंगे। समय के साथ-साथ देश के अधिकाधिक क्षेत्रों में विकसित होने वाले ऐसे ही संगठित स्थानीय जनतंत्रों के माध्यम से मतदाता अर्थात् जनता रोजमर्रा की गतिविधियों पर प्रभाव डाल सकती हैं और अन्त में एक समय ऐसा आयेगा जब सम्पूर्ण राज्य पर इन जनतंत्रों अर्थात् लोक समितियों का स्थायी नियंत्रण रहेगा। और तब राज्य एक सर्वशक्तिशाली लेवायथन नहीं बन पायेगा क्योंकि अधिकाधिक स्थानीय गणतंत्रों के हाथ में होने के कारण राज-सत्ता विकेन्द्रित रहेगी। दूसरे शब्दों में, इस तरह के राज्य और समाज परस्पर-सहवासी हो जायेंगे—अर्थात् जिस सामान्य व्यक्ति से समाज आरम्भ होता है वहीं से राज्य भी होगा।"[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान दूषित एवं विकृत जनतंत्र में लोगे

---

५. एम० एन० राय : पालिटिक्स, पावर ऐण्ड पार्टीज; ६०–६१

दो धाराएं प्रचलित हैं—बिना दलों के राजनीति नहीं हो सकती और बिना सत्ता के दल कुछ नहीं कर सकते—उनके बदले वैज्ञानिक मानववादी राजनीति की दो मौलिक धारणाएं ये है : एक, राजनीति का मुख्य या सर्वप्रथम लक्ष्य सत्ता नहीं है, यह तो अन्य अनेक साधनों की ही तरह एक साधन मात्र हैं—किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए; और दो, दलीय राजनीति (पार्टी पालिटिक्स) से ऐसी परिस्थितियों का पैदा होना अनिवार्य है जिनमें सत्ता का केन्द्रीकरण हो जाता है और यह चीज़ वास्तविक जनतंत्र के लिए खतरनाक भी नहीं होती है बल्कि उसे नष्ट कर देती है। हमारी इन दोनों धारणाओं का अर्थ यह हुआ कि राजनीतिक लक्ष्य बिना सत्ता हथियाये प्राप्त किये जा सकते हे और बिना किसी राजनीतिक संगठन के राजनीति की जा सकती है—बल्कि की जानी चाहिए।

जो लोग—और ऐसे ही लोग सबसे अधिक हैं—पुराने ढंग की राजनैतिक चिंतनप्रणाली और कार्यप्रणाली के आदी हैं, उनको हमारी यह राजनीति समझने में अवश्य ही कठिनाई होगी क्योंकि वे पहले यही नहीं जानते कि राजनीति लक्ष्य अथवा उद्देश्य होता क्या है। हमारी इस "राजनीति का लक्ष्य होगा प्रभुसत्ता-सम्पन्न जन-जन को अपनी प्रभुसत्ता का उपयोग करने का अवसर देना या दिलाना, उनको इसके लिए राजी करना कि जो चीजें वे करना चाहते है उन्हें किसी और के द्वारा किये जाने की आशा करके उसके आगे अपनी प्रभुसत्ता का समर्पण न करे बल्कि स्वय अपने को वोट दें और वे चीजे खुद करें। चूंकि उन चीजों को करना सरकार का काम होता है, इसलिए उन्हे खुद ही करने से, वे सरकार के कामों की अधिकाधिक जुम्मेदारियां अपने ऊपर लेते जायेंगे और इस प्रकार 'जनता की' और 'जनता द्वारा संचालित' सरकार बनायेंगे।"[६]

गत १९४४ में जब कामरेड राय ने अपनी रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की ओर से आज़ाद हिन्द के संविधान का जो प्रारूप तैयार किया था उसमे

---

६. वही; ६३

पूरे देश के लिए जिस संघीय राज्य की व्यवस्था की गयी थी उसे देश भर में फैली स्थानीय जनसमितियों के पूरे नियंत्रण में रखा गया था। उस संविधान में इन समितियों के हाथ में ही पूरे राज्य की प्रभुसत्ता सौंपी गयी थी। उसमें स्पष्ट शब्दों में कहा गया था : "जनता ही सर्वशक्ति की मूल है; राज्य की नींव संगठित जनतन्त्र है; राजसत्ता की असली ताकत गांवों, शहरों और नगरों की स्थानीय जन-समितियों के हाथ में होगी।"[७] इन समितियों के कार्य केवल वही नहीं थे जो आम तौर पर ग्राम पंचायतों, ज़िला परिषदों नगर पालिकाओं आदि स्थानीय निकायों के होते है। इनके कार्यों के अलावा, अपने सर्वोच्च अथवा प्रभुसत्ताक जनतांत्रिक अधिकार का इस्तेमाल करने के सिलसिले में इन समितियों के कार्य इस प्रकार थे : "जन-समितियां संघीय असेम्बली तथा प्रांतीय जनपरिषद के चुनाव के लिए प्रतिनिधियों को नामज़द करेंगी; जनता की भावनाओं को सदा व्यक्त करती रहेंगी ताकि संघीय असेम्बली तथा प्रांतीय परिषदों में जनता के प्रतिनिधियों को काम में मदद मिले; संघीय असेम्बली और प्रान्तीय परिषदों में प्रस्तावित विधेयकों पर बहस करके अपना मत व्यक्त करेंगी (जिससे जनता कानून की अच्छाई-बुराई उसके पारित होने से पहले ही भलीभांति समझ लें) संघीय तथा प्रांतीय जन-परिषदों के प्रतिनिधियों में से किसी क्षेत्र का कोई भी प्रतिनिधि यदि अपने चुनाव घोषणापत्र के अनुसार काम नहीं करता है, तो उसे वापस बुलाने की सिफ़ारिश करेगों; गवर्नरजनरल और प्रान्तीय गवर्नर (अथवा राष्ट्रपति और राज्यपाल) को वापस बुलाने की सिफ़ारिश करेंगी, दोनों (संघीय तथा प्रान्तीय) सदनों से क़ानून बनवाने के लिए अगुवाई करेंगी; और संघीय तथा प्रान्तीय, दोनों सरकारों के किसी क़ानून या कार्यकारिणी की कार्यवाई के मामले में आम जनता की राय लेने अर्थात् जनमत-संग्रह की मांग कर सकेंगी।"[८] इसके अतिरिक्त जन-समितियां इसकी भी कोशिश करेंगी कि सभी नागरिक व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से अपने

---

७. एम० एन० राय : आज़ाद हिन्द का विधान (मसविदा), अध्याय २,

८. वही

प्रभुसत्ता-सम्बन्धी अधिकारों को इस्तेमाल में ला सके और जनतांत्रिक शक्ति सक्रिय रहे।

लेकिन यह तो हुई लोक समितियों की विशुद्ध एवं सीमित संवैधानिक स्थिति जो प्रस्तावित संविधान के वास्तव में लागू होने पर ही निर्भर करती है। इनकी वास्तविक तथा स्वाभाविक स्थिति तो इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण, बुनियादी, व्यापक और दूरगामी है। कामरेड राय तो "गांवों और नगरों के मुहल्लों में लोक समितियों के गठन को एक स्वतंत्र जनतांत्रिक संविधान की उपलब्धि की दिशा में एक क्रान्तिकारी काम मानते थे। वह लोक समितियों को मूलभूत जनतांत्रिक क्रान्ति (रैडिकल डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन) का हथियार समझते थे। आगे चलकर श्री जय प्रकाश नारायण ने 'समग्र क्रान्ति' के लिए लोक समितियों के गठन की बात का प्रचार करके कामरेड राय के विचार का ही प्रतिपादन किया।

"लेकिन इस सबके साथ-साथ कामरेड राय का यह भी कहना था कि इन समितियों की सार्थकता तभी है जब इनके गठन से पहले मूलभूत वास्तविक (रैडिकल) जनतंत्र के मूल्यों का लोगों में काफी प्रचार-प्रसार किया जा चुका हो। लोगों के अन्धविश्वासों और रूढ़िवादिता को खत्म करने के लिए अगर कोई कोशिश नहीं की गयी है और अगर पुराने प्रचलित मूल्यों के आधार पर ही ये लोक समितियां गठित की गयीं, तो इसका अर्थ होगा सामाजिक तथा आर्थिक यथापूर्व स्थिति का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठन ही स्थापित करना। इसलिए वह सदा एक ऐसे नवजागरण आन्दोलन (रिनैसां मूवमेन्ट) के लिए जोर देते रहे जिसके अन्तर्गत लोक समितियों के गठन से पहले पहले स्वतंत्रता, विवेकशीलता और धर्मनिरपेक्ष नैतिकता का काफी व्यापक प्रचार-प्रचार हो जाय।"[६]

अतः, लोक समितियां बनाने वाले तथा उनके जो भी सदस्य होंगे वे बौद्धिक तथा वैचारिक रूप से जागरूक और क्रान्तिकारी होने चाहिए और

६. वी० एम० तारकुंडे : अंग्रेजी मासिक रैडिकल ह्यूमनिस्ट (नं० १२२, मई १९८०)।

इस मामले में भी कोई गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि इस प्रकार के आन्दोलन में शुरू में शामिल होने वालों की संख्या बहुत कम ही होगी और इन्हीं को अपने कार्यों तथा आचरण की मदद से अपनी संख्या बढ़ानी होगी। जैसा कि पहले बार-बार कहा जा चुका है, इन लोक समितियों का मुख्य काम देश में एक तो बौद्धिक तथा दार्शनिक क्रांति सम्पन्न करना और दूसरे, सीधा, संगठित और वास्तविक जनतंत्र स्थापित करना तथा आम जनता को ये दोनों जुम्मेदारियां निभाने की शिक्षा का आन्दोलन करना है। लोक समितियों का यह त्रिकोणी आन्दोलन जितना सफल होगा, उतना ही लोगों का बौद्धिक तथा चारित्रिक विकास होगा और व्यक्तियों का यह विकास जितना अधिक होगा, उतना ही हमारा राजनीतिक जीवन दलबन्दी तथा सत्ता के केन्द्रीय करण ऐसे बुनियादी दोषों से मुक्त होगा।

और ऐसी हालत में "एक दूसरे पर हुकूमत करने की कोशिश करने के लिए कोई वर्ग नहीं होंगे। फिर भी समाज तो रहेगा ही; और वह कोई आदिम समुदाय न होकर कहीं अधिक जटिल संगठन होगा जिसमें काम-काज की अत्यधिक विविधता होगी। ऐसे समाज में किसी केन्द्रीय संगठन का न होना तो असम्भव है। किंतु ऐसे संगठन के लेवायथन होने की कोई जरूरत नहीं है..........लेकिन फिर भी अनेक सामाजिक संस्थाओं की तरह की एक समन्वयकारी संगठन तो होगा ही, जिसका काम अन्य तमाम संस्थाओं की गतिविधियों में ताल-मेल बैठाना होगा।"[१०] और ऐसी हालत में, राज्य नामक सामाजिक संस्था का यही समन्वयकारी काम होगा।

---

१०. एम० एन० राय : रैडिकल ह्यूमनिज्म २७

७

सहकारी अर्थव्यवस्था

वैज्ञानिक मानववाद के राजनीतिक पक्ष पर विचार करते समय हमने देखा कि समाज के तमाम पारस्परिक सम्बन्धों का मूलाधार सहयोग तथा सहकार्य है। सामाजिक सम्बन्ध तथा संस्थाएँ तो साधन मात्र हैं, असली और अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति है, मानव है। इसलिए सामाजिक समस्याओं का हल भी व्यष्टिवादी दृष्टिकोण से ढूँढ़ना होगा; अर्थात् हर सामाजिक व्यवहार में मानवीय तथा नैतिक मान्यताओं एवं मूल्यों का बराबर ध्यान रखना होगा। और चूँकि हर सामाजिक कार्य का कर्ता तथा केन्द्र स्वयं मानव है, इसलिए मानव की स्वतन्त्रता को सबसे प्रथम तथा ऊँचा स्थान प्राप्त होना चाहिए।

उपर्युक्त मूल सिद्धान्तों को सामने रखने पर जब हम देश की आर्थिक समस्या पर विचार करते हैं, तो हमें सबसे पहले यह चीज़ हृदयङ्गम कर लेना होगा कि हम इस समस्या का जो भी हल निकालें और जिस किसी भी अर्थ व्यवस्था का प्रतिपादन करें, उसमें उपर्युक्त मूल सिद्धान्तों का खण्डन न होने पाए। इस दृष्टिकोण से देखने पर इस निर्णय पर तो हम आरम्भ में ही पहुँच जाते हैं कि हमारी अर्थ-व्यवस्था का मौलिक रूप सहयोगी अथवा सहकारी होगा और वह प्रतिद्वन्द्विता पर आधारित निजी पूँजीवाद तथा केन्द्रीकरण या समष्टिवादी - समाजवाद-साम्यवाद से भिन्न होगा। इस प्रकार हम आर्थिक क्षेत्र से परस्पर प्रतिद्वन्द्विता तथा मानव की मूल इकाई की अवहेलना करने वाली तानाशाही के सिद्धान्त पर आधारित केन्द्रीकरण को दूर रख सकेंगे और साथ-साथ में नियोजन कार्य तथा स्वतंत्रता में सामञ्जस्य स्थापित कर सकेंगे। फलत हमारी योजनाय ऊपर से थोपी हुई न होकर नीचे से सहकारिता पर

आधारित होंगी और ऊपर की ओर उठते-उठते विभिन्न सहकारी इकाइयों की योजनाओं में सामञ्जस्य स्थापित किया जायेगा। कहीं पर शक्ति केन्द्रित नहीं होने दी जायेगी और इकाइयों की अपनी निजी स्वतन्त्रता तथा सत्ता सुरक्षित रहेगी।

आजकल आमतौर पर मुख्यत: तीन प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाएं चालू हैं—निजी पूंजीवाद, समाजवाद अथवा साम्यवाद और मिश्रित (दोनो की) अर्थव्यवस्था।

पूंजीवाद

पूंजीवाद में उत्पादन के साधनों पर किसी व्यक्ति की अथवा कुछ इने-गिने व्यक्तियों के समूहों का निजी स्वामित्व होता है। इस व्यवस्था का मूलाधार उत्पादन-साधनों के स्वामियों की निजी मुनाफ़ा-खोरी परस्पर-प्रतिद्वन्द्विता होता है और समाज की आर्थिक प्रगति तथा निर्माण का भाग्य बाजारों और बाजारू शक्तियों की दया पर आश्रित रहता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जनता की चीजें खरीदने की शक्ति अत्यन्त सीमित होती है, जिसका फल यह होता है कि उत्पादन भी सीमित रखा जाता है। उत्पादन तभी बढ़ सकता है जब खरीदने वाले अधिक हों, और खरीदने वाले तभी बढ़ सकते हैं जब उनके पास अतिरिक्त धन हो और यह अतिरिक्त धन तब हो सकता है जब समाज की सम्पूर्ण धन-शक्ति कुछ लोगों की जेबों और तिजोरियों में सीमित न होकर सम्पूर्ण समाज में फैली हुई हो। और यहीं पर निजी मुनाफे और परस्पर प्रतिद्वन्द्विता पर आधारित पूंजीवाद फेल कर जाता है।

मुख्यत: हमारे देश की साधारण जनता की खरीदने की शक्ति अत्यन्त सीमित है और इसलिए पूंजीवाद को अधिक लाभ की गुंजायश नहीं रहती है और इस प्रकार उत्पादन की गति रुक जाती है, उसमें वृद्धि नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में उत्पादन को जारी रखने के लिए बाहरी शक्तियों तथा सरकारी सहायता की शरण लेनी पड़ती है। लेकिन इससे असली समस्या का हल नहीं निकलता; नकली बाजारें खड़ी हो जाती हैं; देखने में उत्पादन कार्य बढ़ने लगता है, लेकिन जहाँ तक साधारण जनता का सम्बन्ध है उसे इससे कोई

लाभ नहीं होता है। असली बाजार की समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। देश की अधिकांश जनता जो खेती पर आश्रित है, ग़रीब की ग़रीब बनी रहती है, उसकी ख़रीदने की शक्ति उसी गिरी हालत में पड़ी रहती है। फलतः बहुत से उद्योग धन्धे ठण्डे पड़ने लगते हैं या धीरे-धीरे सरकारी नियन्त्रण में चले जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अभी तक जो घाटा निजी पूँजीपतियों को होता था, वह अब सरकार को होने लगता है और इस प्रकार साधारण जनता पर इस घाटे का अतिरिक्त बोझ पड़ने लगता है, क्योंकि सरकारी खजाने में जनता से ही धन जाता है।

ऐसी स्थिति में भारी तथा बुनियादी उद्योग खड़े करने की योजनाएँ बनती हैं, ताकि उन्नत देशों के मुकाबले में अन्य पिछड़े हुए देशों में व्यापार किया जा सके या फिर अपने ही देश में ऐसे वर्ग के इस्तेमाल का माल तैयार किया जाय जिसके पास अधिक धन हो, या फिर शस्त्रास्त्र बनाये जायं जिनकी बिक्री सीधे-सीधे सरकारों के हाथ की जा सके। इन सब उपायों से, हो सकता है, बड़े बड़े उद्योग धन्धे लाख खड़े हो जांय, लेकिन साधारण जनता का न तो इससे कोई लाभ होता है और न समस्या का स्थाई हल ही निकल पाता है। बल्कि उल्टे यह सब साधारण जनता की आवश्यकताओं की बलि देकर ही किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीवादी आर्थिक विकास से न तो उत्पादन-वृद्धि की समस्या हल होती है, न श्रम का पूरा पूरा व उचित फल मिलता है, न धन का उचित व समान वितरण हो पता है और न सामान्य जीवन की आवश्यक जरूरतें ही पूरी हो पाती हैं।

समाजवाद

अब हम यदि समाजवाद अथवा साम्यवाद की व्यवस्था पर विचार करें, तो भी परिणाम कोई अधिक आशाजनक नहीं निकलता। इस व्यवस्था का मूल सैद्धान्तिक आधार होता है उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व होना। चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था में निजी स्वामित्व की नीति से उत्पादन वृद्धि नहीं हो पाती है, इसलिए व्यक्तिगत मुनाफाखोरी और प्रतिद्वन्द्विता को खत्म करने के लिए तमाम उत्पादन-साधनों पर राष्ट्र के स्वामित्व

की व्यवस्था की जाती है। और चूंकि सम्पूर्ण राष्ट्र की सर्वोच्च संगठित संस्था राज्य होती है, इसलिए तमाम उद्योगधन्धों पर राज्य के स्वामित्व की बात कही जाती है। इसी प्रकार भूमि पर भी राज्य का स्वामित्व हो जाता है और अलग-अलग किसान मालिक न होकर सामूहिक खेती की व्यवस्था की जाती है।

लेकिन, जैसा कि हमने पूंजीवाद के विषय में देखा था, मौलिक-समस्या स्वामित्व-परिवर्तन मात्र से नहीं हल हो सकती है, क्योंकि असली समस्या यह नहीं है कि मालिक कौन है, समस्या तो उत्पादन वृद्धि की है, उचित वितरण की है और जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की है। समाजवाद की समष्टि-वादी व्यवस्था में चूंकि तमाम उत्पादन-साधनों का मालिक राज्य होता है, इसलिए तमाम आर्थिक योजनाएं केन्द्रीय सरकारें द्वारा ऊपर से बनायी जाती हैं। ऐसी योजनाओं में देश के विभिन्न स्थानों की आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं की जाती है बल्कि पूरे राष्ट्र की उन्नति पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यहां पर हमें एक बात याद रखनी चाहिए कि किसी राष्ट्र के बड़े और समृद्ध होने का यह अर्थ अनिवार्य नहीं है कि राष्ट्र में रहने वाले जन-जन भी समृद्ध तथा सुखी हों। उदाहरण के लिए हमने पिछले महायुद्ध से पूर्व के जर्मनी, इटली तथा जापान आदि फाशिष्ट देशों को देखा है कि दूसरे देशों में वहां की बनी हुई न जाने कितनी ही छोटी बड़ी चीजें बिकती थीं और समझते थे कि ये देश बड़े समृद्ध हैं। इन सब देशों में समष्टिवादी सरकारी स्वामित्व की व्यवस्था थी। लेकिन वास्तविकता यह है कि वहां की साधारण जनता की हालत पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत वाली हालत से कोई अच्छी नहीं थी।

यहां पर यह समझने की आवश्यकता है कि राज्य के प्रशासन कार्य का संचालन सरकार द्वारा होता है और सरकार कुछ लोगों द्वारा ही संचालित होती है। ये कुछ लोग किसी दल विशेष के प्रति उत्तरदायी होते हैं और उसी दल के निर्देशानुसार कार्य करते हैं। फलतः विभिन्न दल सत्ता हथियाने के लिए नोच-खसोट करते हैं। जैसा कि हमने दलगत जनतन्त्र में देखा, जो दल सत्तारूढ़ होता है, वह अपनी स्थिति कायम रखने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करता है

और इन हर सम्भव प्रयत्नों में विरोधी दलों का पूर्ण दमन भी किया जा सकता है और फाशिस्ट और कम्यूनिस्ट देशों में किया गया है। और चूंकि पूरी जनता के जीवन का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध आर्थिक समस्याओं से है, उसका जीना-मरना रोटी, कपड़ा और मकान आदि पर ही निर्भर है, इसलिए उसके अधिकांश कार्य इसी धुरी के इधर उधर मंडराते हैं। अतः जिस दल का प्रभुत्व राज-सत्ता पर हो जाता है, वही जनता के सम्पूर्ण जीवन का स्वामी हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि एक ओर तो समष्टिवादी अर्थ-व्यवस्था से राष्ट्र की तमाम उत्पादन शक्ति एक जगह केन्द्रित हो जाती है और दूसरी ओर राजशक्ति भी अधिनायकवाद अथवा तानाशाही की ओर बढ़ती जाती है। राजसत्ता हथियाने का कार्य आतंकवादी एवं हिंसात्मक उपायों से भी होता है और वैधानिक उपायों से भी। प्रथम तरीके में काफी समय तक देश मे अशान्ति तथा अराजकता का वातावरण रहता है, जिसके तत्काल-महत्व की झोंक में अनेक मौलिक समस्याएं, जिनमें आर्थिक भी शामिल हैं, दबी रह जाती है। फलतः इस संघर्ष का अन्त कुछ भी हो, इस बीच में जनता की तत्काल आवश्यकताओं और स्वार्थों का बलिदान होता रहेगा। इस अशांत वातावरण मे राजसत्ता अधिकाधिक दमनकारी और तानाशाह होती जायेगी। वैधानिक तरीके में काफी लम्बा समय लगता है और इस लम्बे समय में दलों की और दलों के भीतरी गुटों की तमाम शक्ति सत्ता तथा अधिकारपूर्ण स्थानों पर कब्जा करने में लगी रहेगी, न कि जनता की स्वन्त्रता तथा कल्याण के कार्य मे। इस प्रकार राजनीतिक वातावरण गन्दे से गन्दा होता जायेगा। इसका प्रभाव सारे समाज पर पड़ेगा। अनेकानेक संकट उत्पन्न होंगे और कुछ उत्पन्न किये भी जायेंगे। फलतः जनता की मौलिक समस्याओं की अवहेलना होगी।

उत्पादन साधनों पर सरकारी नियन्त्रण का एक और फल यह होगा कि व्यक्तिगत प्रेरणा का अभाव होगा, नौकरशाही का बोलबाला होगा। योजनाएं जनता की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं, बल्कि राजनीतिक विचारधाराओं की दृष्टि से बनेगी; उनमे नीचे की इकाइयों का कोई हाथ न

होगा, ऊपर से जो ठीक समझा जायेगा, वह किया जायेगा और साधारण जनता में आत्मविश्वास का ह्रास होता जायेगा। इस प्रकार समष्टिवादी समाजवाद से देश का गौरव बढ़ सकता है, नकली समृद्धि हो सकती है, लेकिन असली समस्या ज्यों की त्यों रहेगी।

अब जहां तक मिश्रित अर्थ-पद्धति का सम्बन्ध है, इसमें उपर्युक्त दोनो पद्धतियां शामिल हैं और साथ-साथ में दोनों के अवगुण भी। इसमें सामन्तवाद, पूँजीवाद तथा समाजवाद सभी के लक्षण हैं। फलत: सभी के अवगुण का सम्मिलन ही इसका आधार है, और आजकल की अधिकांश आर्थिक समस्याओ तथा दुर्बलताओं की यही जड़ है। इसमें एक कल्पित राष्ट्रीय एकता के नाम पर समाज के अनेक ऐसे अंगो और वर्गों को खुश किया जाता है जिन्हें सिर्फ अपने मुनाफे से मतलब है, जिसका परिणाम आरम्भ में इतना भयकर नही लगता जितना अन्त में सिद्ध होता है।

सहकारिता

ऐसी हालत में हमें एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था निर्धारित करनी है जो इन सब दोषों से मुक्त हो और पिछले पृष्ठों में निर्देशित दार्शनिक-राजनैतिक सिद्धांतों के अनुकूल हो। और यह व्यवस्था है सहकारी आर्थिक प्रणाली। जैसा आरम्भ में कहा गया था, स्वतन्त्र समाज का मूलाधार है सहकारिता, सहयोग। इस व्यवस्था का सबसे पहला कार्य यह होगा कि जनता मे आत्मविश्वास हो, सरकार पर आश्रित न हो; योजनाएं आधारभूत इकाइयां—जन अथवा लोक समितियां बनाएं अपनी आवश्यकताओं के अनुसार। उत्पादनकर्ता तथा उपभोक्ता, दोनों में सीधा सीधा परस्पर सम्बन्ध होगा। यही जन अथवा लोक समितिया सहकारी समितियों का काम भी करेंगी और यही समितियां अपने क्षेत्र के उत्पादन, खपत, वितरण तथा लेन-देन की व्यवस्था करेगी। बहुधन्धी समितियों मे सभी बराबरी के दर्जे पर होंगी। किसान अपनी भूमि के मालिक होंगे, लेकिन उत्पादन वृद्धि के लिए मिलकर स्वयं जोतबन्दी कर लेंगे, आपस में कार्य विभाजन कर लेंगे। किसी क्षेत्र के अनेक कार्यो के लिए बनी समितियों के बीच वहां की जन समितियां सामन्जस्य स्थापित

करगी। इस व्यवस्था में मनुष्य मनुष्य के बीच मालिक नौकर, खरीदार-दुकान-दार आदि के विभेद नहीं होंगे! यह बहुधन्धी समितियां अपने-अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र होंगी, और राज्य के नियन्त्रण से मुक्त। फिर अनेक क्षेत्रों की समितियों की मिली-जुली सामन्जस्य स्थापित करने, एक दूसरे से परस्पर-व्यवहार करने तथा अनुभव-परिवर्तन करने के लिए समितियां होंगी। इस प्रकार देश का समूचा आर्थिक ढांचा नीचे से उठ कर ऊपर जायेगा, नीचे अति विस्तृत और विशाल होगा, ऊपर उठते-उठते कम होता जायेगा।

अब यहां पर प्रश्न यह उठता है कि ऐसी व्यवस्था में राज्य का क्या स्थान होगा। हम यहां केवल संकेतरूप में कह सकते हैं कि ऐसी व्यवस्था में राज्य केवल सार्वजनिक वित्त अर्थात् धन का संचालन करेगा। जिन कार्यों का काफी लम्बे क्षेत्र के हित से सम्बंध है, उनके लिए वह विभिन्न क्षेत्रीय समितियों की योजनानुसार, उनकी आवश्यकतानुसार धन की व्यवस्था करेगा। जरूरत पड़ने पर वह किसी आर्थिक मामले में तभी नियन्त्रण अथवा अंकुश लगायेगा, जिसके लिए नीचे से मांग होगी।

यहां पर हम अनेकानेक आर्थिक समस्याओं पर विस्तार से विचार नहीं करेंगे, उनके लिए अधिक स्थान की आवश्यकता है। यहां पर इतना ही कहना काफी है कि इस व्यवस्था में पूर्वलिखित चालू व्यवस्थाओं के अवगुणों से बचने अर्थात् मुनाफे के बदले उपयोग, केन्द्रीकरण के बदले विकेन्द्रीकरण और राज्य के बदले स्वयं जनता तथा नियन्त्रण के बदले सहयोग की सुरक्षा की जायेगी।